विनोबाके विचार

संपादक

वियोगी हरि

प्रस्तावना-लेखक

स्व० श्री महादेव देसाई

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली ।

चौथी बार : १९४६
मूल्य
दो रुपए

मुद्रक
अमरचंद्र
राजहंस प्रेस,
दिल्ली, २५-४७ ।

विषयसूची

प्रस्तावना

प्रसिद्धिकी जिनको कभी परवाह नहीं थी उनको पूज्य गांधीजीके सत्याग्रहने असाधारण प्रसिद्धि दे दी। यह प्रसिद्धि मिल गई तो उससे भी जलकमलवत् निर्लिप्त रहनेकी शक्ति जितनी श्री विनोबाकी है उतनी और किसीकी नहीं है। जिन विशेषताओंके लिए पूज्य गांधीजीने उन्हें प्रथम सत्याग्रहीकी हैसियतसे पसंद किया उन विशेषताओंको सब लोग समझ नहीं सके हैं ऐसी मुझे आशंका है। कई बड़े-बड़े सरकारी अफसरोंने मुझसे कहा कि जवाहरलालजी, भूलाभाई तो बड़े नेता हैं, उनको कड़ी सजा देनी पड़ती है क्योंकि उनका प्रभाव हजारों लोगोंपर है। विनोबा तो Small fry यानी अल्प जीव—हैं, उनको गांधीजीने बढ़ाया है, उनके असरका सरकारको डर नहीं है। डर हो या न हो मि० एमरीने भी अब श्री विनोबाका नाम अपने निवेदनमें दिया और उनका एक सच्चे दयाधर्मीके नामसे उल्लेख किया है।

विनोबाका प्रभाव आज नहीं, वर्षोंके बाद लोग जानेंगे। उनकी थोड़ी विशेषताओंका निर्देश करना मैं आवश्यक समझता हूं। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं; शायद वैसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भी होंगे। वे प्रखर विद्वान् हैं; वैसे प्रखर विद्वान् और भी हैं। उन्होंने सादगीको वरण किया है; उनसे भी अधिक सादगीसे रहनेवाले गांधीजीके अनुयायियोंमें कई हैं। वे रचनात्मक कार्यके महान् पुरस्कर्त्ता और दिन-रात उसीमें लगे रहनेवाले व्यक्ति हैं; ऐसे भी कुछ गांधी-मार्गानुगामी हैं। उनकी जैसी तेजस्वी बुद्धि-शक्तिवाले भी कई हैं। परंतु उनमें कुछ और भी

चीजें हैं जो और किसीमें नहीं हैं। एक निश्चय किया, एक तत्त्व ग्रहण किया तो उसका उसी क्षणसे अमल करना—उनका प्रथम पंक्तिका गुण है। उनका दूसरा गुण निरंतर विकासशीलताका है। शायद ही हममेंसे कोई ऐसा हो जो कह सके कि मैं प्रतिक्षण विकास कर रहा हूं। बापूको छोड़कर यदि और किसीमें यह गुण मैंने देखा है तो विनोबामें। इसलिए ४६ सालकी उम्रमें उन्होंने अरबी जैसी कठिन भाषाका अभ्यास किया, कुरानशरीफका अनुष्ठान किया और उनके हाफ़िज़ बन गये हैं। बापूके कई बड़े अनुयायी ऐसे हैं जिनका प्रभाव जनतापर बहुत पड़ता है, पर बापूके शायद ही किसी अनुयायीने सत्य-अहिंसाके पुजारी और कार्य-रत सच्चे सेवक उतने पैदा किये हों जितने कि विनोबाने पैदा किये हैं। "योग: कर्मसु कौशलम्"के अर्थमें विनोबा सच्चे योगी हैं। उनके विचार, वाणी और आचारमें जैसा एकराग है वैसा एकराग बहुत कम लोगोंमें होगा, इसलिए उनका जीवन एक मधुर संगीतमय है। "संचार करो सकल कर्मे शांत तोमार छंद" कविवर टैगोरकी यह प्रार्थना शायद विनोबा पूर्वजन्मसे करके आये हैं। ऐसे अनुयायीसे गांधीजी और उनके सत्याग्रहकी भी शोभा है।

उनके कुछ लेखोंका यह संग्रह बड़ा उपयोगी होगा। उनकी मित-भाषिता, उनके विचार और वाणीका संयम और उनकी तत्त्वनिष्ठाका इस संग्रहमें पद-पदपर परिचय मिलेगा।

सेवाग्राम
२५-११-४०

महादेव देसाई
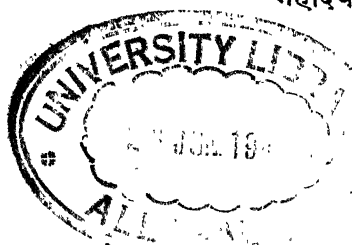
प्रथम सत्याग्रही विनोबा

श्री विनोबा भावे कौन हैं? मैंने उन्हें ही इस सत्याग्रहके लिए क्यों चुना? और किसीको क्यों नहीं? मेरे हिंदुस्तान लौटनेपर सन् १९१६में उन्होंने कालिज छोड़ा था। वे संस्कृतके पण्डित हैं। उन्होंने आश्रममें शुरूसे ही प्रवेश किया था। आश्रमके सबसे पहले सदस्योंमेंसे वे एक हैं। अपने संस्कृतके अध्ययनको आगे बढ़ानेके लिए वे एक वर्षकी छुट्टी लेकर चले गये। एक वर्षके बाद ठीक उसी घड़ी, जब कि उन्होंने एक वर्ष पहले आश्रम छोड़ा था, चुपचाप आश्रममें फिर आ पहुंचे। मैं तो भूल भी गया था कि उन्हें उस दिन आश्रममें वापस पहुंचना था। वे आश्रममें सब प्रकारकी सेवा-प्रवृत्तियों—रसोईसे लगाकर पाखाना-सफाई तक—में हिस्सा ले चुके हैं। उनकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक है। वे स्वभावसे ही अध्ययनशील हैं। पर अपने समयका ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा वे कातने में ही लगाते हैं, और उसमें ऐसे निष्णात हो गये हैं कि बहुत ही कम लोग उनकी तुलनामें रखे जा सकते हैं। उनका विश्वास है कि व्यापक कताईको सारे कार्यक्रमका केंद्र बनानेसे ही गांवोंकी गरीबी दूर हो सकती है। स्वभावसे ही शिक्षक होनेके कारण उन्होंने श्रीमती आशादेवीको दस्तकारीके द्वारा बुनियादी तालीमकी योजनाका विकास करनेमें बहुत योग दिया है। श्री विनोबाने कताईको बुनियादी दस्तकारी मानकर एक पुस्तक भी लिखी है। यह बिलकुल मौलिक चीज है। उन्होंने हंसी उड़ानेवालोंको भी यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि कताई एक ऐसी अच्छी दस्तकारी है कि जिसका

उपयोग बुनियादी तालीममें बखूबी किया जा सकता है। तकली कातनेमें तो उन्होंने क्रांति ही ला दी है; और उसके अंदर छिपी हुई तमाम शक्तियोंको खोज निकाला है। हिंदुस्तानमें हाथकताईमें इतनी संपूर्णता किसीने प्राप्त नहीं की जितनी कि उन्होंने की है।

उनके हृदयमें छूआछूतकी गंधतक नहीं है। सांप्रदायिक एकतामें उनका उतना ही विश्वास है जितना कि मेरा। इस्लाम धर्मकी खूबियोंको समझनेके लिए उन्होंने एक वर्षतक कुरानशरीफका मूल अरबीमें अध्ययन किया। इसके लिए उन्होंने अरबी भी सीखी। अपने पड़ोसी मुसलमान भाइयोंसे अपना सजीव संपर्क बनाये रखनेके लिए उन्होंने इसे आवश्यक समझा।

उनके पास उनके शिष्यों और कार्यकर्त्ताओंका एक ऐसा दल है जो उनके इशारेपर हर तरहका बलिदान करनेको तैयार है। एक युवकने अपना जीवन कोढ़ियोंकी सेवामें लगा दिया है। उसे इस कामके लिए तैयार करनेका श्रेय श्री विनोबाको ही है। औषधियोंका कुछ भी ज्ञान न होनेपर भी अपने कार्यमें अटल श्रद्धा होनेके कारण उसने कुष्ठ-रोगकी चिकित्साको पूरी तरह समझ लिया है। उसने उनकी सेवाके लिए कई चिकित्साघर खुलवा दिये हैं। उसके परिश्रमसे सैकड़ों कोढ़ी अच्छे हो गये हैं। हालहीमें उसने कुष्ठ-रोगियोंके इलाजके संबंधमें एक पुस्तिका मराठीमें लिखी है।

विनोबा कई वर्षोंतक वर्धाके महिला-आश्रमके संचालक भी रहे हैं। दरिद्रनारायणकी सेवाका प्रेम उन्हें वर्धाके पासके एक गांवमें खींच ले गया। अब तो वे वर्धासे पांच मील दूर पौनार नामक गांवमें जा बसे हैं और वहांसे उन्होंने अपने तैयार किये हुए शिष्योंके द्वारा गांववालोंके साथ संपर्क स्थापित कर लिया है। वे मानते हैं कि हिंदुस्तानके लिए "राजनैतिक स्वतंत्रता" आवश्यक है। वे इतिहासके निष्पक्ष विद्वान् हैं। उनका विश्वास है कि गांववालोंको रचनात्मक कार्यक्रमके बगैर सच्ची आजादी नहीं मिल सकती। और रचनात्मक कार्यक्रमका केंद्र है खादी।

उनका विश्वास है कि चरखा अहिंसाका बहुत ही उपयुक्त बाह्य चिह्न है। उनके जीवनका तो वह एक अंग ही बन गया है। उन्होंने पिछली सत्याग्रहकी लड़ाइयोंमें सक्रिय भाग लिया था। वे राजनीतिके मंचपर कभी लोगोंके सामने आये ही नहीं। कई साथियोंकी तरह उनका यह विश्वास है कि सविनय आज्ञा भंगके अनुसंधानमें शांत रचनात्मक काम कहीं ज्यादा प्रभावकारी होता है, इसकी अपेक्षा कि जहां आगे ही राजनैनिक भाषणोंका अखंड प्रवाह चल रहा है वहां जाकर और भाषण दिये जायें। उनका पूर्ण विश्वास है कि चरखेमें हार्दिक श्रद्धा रखे बिना और रचनात्मक कार्यमें सक्रिय भाग लिये बगैर अहिंसक प्रतिकार संभव नहीं।

श्री विनोबा युद्ध-मात्रके विरोधी हैं। परंतु वे अपनी अंतरात्माकी तरह उन दूसरोंकी अंतरात्माका भी उतना ही आदर करते हैं जो युद्ध-मात्रके विरोधी तो नहीं हैं, परंतु जिनकी अंतरात्मा इस वर्त्तमान युद्धमें शरीक होनेकी अनुमति नहीं देती। अगरचे श्री विनोबा दोनों दलोंके प्रतिनिधिके तौरपर हैं, यह हो सकता है कि सिर्फ हालके इस युद्धमें विरोध करनेवाले दलका खास एक और प्रतिनिधि चुननेकी मुझे आवश्यकता लगे।

मो० क० गांधी

'हरिजन-सेवक' से]

विनोबाके विचार

: १ :

बूढ़ा तर्क

ज्यादा उम्रवालेको अपने यहां बूढ़ा कहते हैं। इस देशमें आजकल ऐसे बूढ़े बहुत कम मिलते हैं। हम लोगोंकी जिंदगीका औसत २४ बरसका पड़ता है। कहते हैं विलायत वगैरह देशोंमें इससे दूना है। इससे वहां बूढ़े बहुत मिलते हैं।

अपने यहां ऐसे बढ़े चाहे कम हों पर एक और तरहके बूढ़े तो बहुत हैं। वह किस तरहके हैं? किसी विद्वान्‌ने कहा है कि नई चीज सीखनेकी आशा जिसने छोड़ दी वह बूढ़ा है। ऐसे बूढ़े अपने यहां जहां देखिये मिल जायंगे। बचपनमें जो पल्ले पड़ गया पड़ गया। इसके बाद यदि जरा बड़े होकर किसी धंधेमें लग गए और तब कहा गया कि एकाध चीज सीख लो तो वैसा कुछ होनेका नहीं। इस जड़ताने पढ़े-अनपढ़ दोनोंमें मुद्दतोंकी गुलामीके कारण घर-सा कर लिया है। पढ़े हुओंमें यह कुछ अधिक ही है, कम नहीं।

एक बार एक राष्ट्रीय पाठशालाके शिक्षकको मैंने सहज सुझाया "आप थोड़ी-सी हिंदी सीख लें।[1] हिंदीको हमने राष्ट्रभाषा माना है। राष्ट्रीय पाठशालामें तो हिंदीकी शिक्षाको स्थान होना चाहिए। और हिंदी फिर कोई कठिन भाषा नहीं है, सहज है और इसी कारण वह

[1]यह लेख मराठीसे अनुवादित है और विनोबाजी महाराष्ट्रीय हैं

राष्ट्रभाषा बन सकी है। गर्मीकी किसी छुट्टीमें हिंदी भाषा सहज ही, मजेसे सीखी जा सकेगी। आप सीख लें तो फिर हम भी बच्चोंको थोड़ी हिंदी सिखा सकेंगे।" इसपर उनकी ओरसे सीधा जवाब मिला, "आप जो कहते हैं वह ठीक है। हिंदी कोई वैसी कठिन भाषा नहीं है। पर अब हमसे कोई नई चीज सीखते बनेगा ऐसा नहीं लगता। मुझे जो कुछ आता है उससे आप जी चाहे जितना काम ले लीजिए। चाहे तो चारके बदले पांच घंटे पढ़ा देंगे पर नया सीखनेके लिए न कहिए। सीखते-सीखते ऊब गया!" बेचारा जिंदगीसे भी ऊबा हुआ दिखा। इसका नाम है 'बूढ़ा'।

यह तो हुई सादी हिंदी सीखनेकी बात। अगर कोई जरा बढ़कर कहे कि "हिंदू-मुस्लिम-एकता दृढ़ करनी हो तो दोनोंको ही पास आकर एक-दूसरेको जान लेना चाहिए। इससे बहुत-सी गलतफहमी अपने-आप दूर हो जायेगी। इसके लिए देवनागरी-लिपिके साथ-ही-साथ राष्ट्रीय-पाठशालाओंमें उर्दू लिपि सिखाई जाय। "और चूंकि यह करना है इसलिए शिक्षक पहले वह लिपि सीख लें" फिर तो वह पागलोंमें ही शुमार किया जायगा। "अजी साहब, मुसलमानोंकी सारी बातें उल्टी होती हैं। हम चोटी रखते हैं, वे कटवाते हैं। हम दाढ़ी साफ कराते हैं, वे दाढ़ी रखाते हैं यही बात उनकी लिपिकी है। हम बाईं ओरसे दाहिनी तरफ लिखते हैं तो वे दाहिनी तरफसे बाईं ओर। ऐसी लिपि हमसे कैसे सीखी जा सकेगी," यह उनका जवाब है। यह कल्पनासे नहीं लिखता, ऊपरका जवाब एक सज्जनसे सचमुच मिला है। मुसलमानोंके बारेमें उनका कथन मजाकमें वैसा हो गया, अन्यथा वह उनके मनके भाव नहीं थे। मनकी बात इतनी ही थी कि "नया नहीं सीखना।"

और अगर सूत कातनेको कह दिया? फिर तो पूछिए ही नहीं। "पहले तो वक्त ही बहुत कम मिलता है। और वक्त अगर ज्यों-त्यों करके निकाला भी, तो आजतक ऐसा काम कभी किया नहीं तो अब

कैसे होगा ?" यहांसे शुरूआत होगी। "जो आजतक नहीं हुआ वह आगे भी नहीं होनेका।" यह बूढ़ा तर्क है। मालूम नहीं इन बूढ़ोंको यह क्यों नहीं समझ पड़ता कि जो आजतक नहीं हुईं ऐसी बहुत-सी बातें आगे होनेवाली हैं। आजतक मेरे लड़केका ब्याह नहीं हुआ वह अभी होनेको है, यह मेरी समझमें आता है। लेकिन अबतक मेरे हाथसे सूत नहीं कता वह आगे कतनेको है, यह मेरी समझमें क्यों नहीं आता ? इसका जवाब साफ है। आजतक मैंने स्वराज्य नहीं पाया है वह आगे पाना है, यह हमारे ध्यानमें न होनेकी वजहसे। और इसीके साथ आजतक मैं मरा नहीं हूं तो भी आगे मरना है, बल्कि आजतक मैं मरा नहीं इसीलिए आगे मरना है, इस बातका भी भान नहीं रहा इसलिए।

मेरे मन, आजतक मैं मरा नहीं इससे आगे नहीं मरना है, ऐसे बूढ़े तर्कका आसरा मत लो, नहीं तो फजीहत होगी।

: २ :

त्याग और दान

एक आदमीने भलेपनसे पैसा कमाया है। उससे वह अपनी गृहस्थी सुख-चैनसे चलाता है। बाल-बच्चोंका उसे मोह है; देहकी ममता है। स्वभावतः ही पैसेपर उसका जोर है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानीसे बनाता है। यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च जमाके अन्दर है और उससे 'पूंजी' कुछ बढ़ी ही है, उसे खुशी होती है। बड़े ठाटसे और उतने ही भक्तिभावसे वह लक्ष्मीजीकी पूजा करता है। उसे द्रव्यका लोभ है, फिर भी नामका कहिए या परोपकारका कहिए उसे खासा खयाल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दानधर्मके लिए—इसीमें देशको भी ले लीजिए—खर्च किया हुआ धन ब्याजसमेत वापस मिल जाता है। इसलिए इस काममें वह खुले हाथों खर्च करता है। अपने आस-पासके गरीबोंको उसका इस तरह बड़ा सहारा लगता है जिस तरह छोटे बच्चोंको अपनी मांका।

दूसरे एक आदमीने इसी तरह सचाईसे पैसा कमाया था। लेकिन इसमें उसे संतोष न होता था। उसने एक बार बागके लिए कुआं खुदवाया। कुआं बहुत गहरा था। उसमेंसे थोड़ी मिट्टी, कुछ छर्री और बहुत पत्थर निकले। कुआं जितना गहरा गया इन चीजोंका ढेर भी उतना ही ऊंचा लग गया। मन-ही-मन वह सोचने लगा, "मेरी तिजोरीमें भी पैसेका ऐसा ही एक टीला लगा हुआ है, उसी अनुपातसे किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया होगा?" विचारका धक्का बिजली जैसा होता है; इतने विचारसे ही वह हड़बड़ाकर सचेत

हो गया। वह कुआं तो उसका गुरु बन गया। कुएंसे उसे जो कसौटी मिली उसपर उसने अपनी सचाईको घिसकर देखा, वह खरी नहीं उतरती ऐसा ही उसे दिखाई दिया। इस विचारने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाई'की रक्षा मैंने भले ही की हो, फिर भी इस बालूकी बुनियादपर मेरा मकान कबतक टिक सकेगा? अंतमें पत्थर, मिट्टी और मानिक-मोतियोंमें उसे कोई फर्क नहीं दिखाई दिया। यह सोचकर कि फिजूलका कूड़ा-कचरा भरकर रखनेसे क्या लाभ, वह एक दिन सबेरे उठा और अपनी सारी संपत्ति गधेपर लादकर गंगा-किनारे ले गया। "मां, मेरा पाप धो डाल!" इतना कहकर उसने वह कमाई गंगा माताके आंचलमें उंडेल दी और बेचारा स्नान करके मुक्त हुआ। उससे कोई-कोई पूछते हैं "दान ही क्यों न कर दिया?" वह जवाब देता है "दान करते समय 'पात्र' तो देखना पड़ता है। अपात्रको दान देनेसे धर्मके बदले अधर्म होनेका डर जो रहता है। मुझे अनायास गंगाका 'पात्र' मिल गया, उसमें मैंने दान कर दिया। इससे भी संक्षेपमें वह इतना ही कहता है, "कूड़े-कचरेका भी कहीं दान किया जाता है?" उसका अंतिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके संपत्ति-त्यागसे उसके सब 'सगों'ने उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दानकी है; दूसरी त्यागकी। आजके जमानेमें पहली मिसाल जिस तरह दिलपर जमती है उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारोंने भी दानकी महिमा कलियुगके लिए कही है। 'कलियुग' मानी क्या? कलियुग मानी दिलकी कमजोरी। दुर्बल हृदय द्रव्यके लोभको पूरी तरह नहीं छोड़ सकता। इसलिए उसके मनकी उड़ान अधिक-से-अधिक दानतक ही हो सकती है। त्यागतक तो उसकी पहुंच ही नहीं हो सकती। लोभी मनको तो त्यागका नाम सुनते ही जाने कैसा लगता है! इसलिए उसके सामने शास्त्रकारोंने दानके ही गुण गाये हैं।

त्याग तो बिलकुल जड़पर ही आघात करनेवाला है। दान ऊपर-

ही-ऊपरसे कोंपलें खोंटने जैसा है। त्याग पीनेकी दवा है; दान सिरपर लगानेकी सोंठ है। त्यागमें अन्यायके प्रति चिढ़ है; दानमें नामका लिहाज है। त्यागसे पापका मूलधन चुकता है; और दानसे पापका ब्याज। त्यागका स्वभाव दयालु है; दानका ममतामय। धर्म दोनों ही पूर्ण हैं। त्यागका निवास धर्मके शिखरपर है; दानका उसकी तलहटीमें।

पुराने जमानेमें आदमी और घोड़ा अलग-अलग रहते थे। कोई किसीके अधीन न था। एक बार आदमीको एक जल्दीका काम आ पड़ा। उसने थोड़ी देरके लिए घोड़ेसे उसकी पीठ किरायेपर मांगी। घोड़ेने भी पड़ोसीके धर्मको सोचकर आदमीका कहना स्वीकार कर लिया। आदमीने कहा, "लेकिन तेरी पीठपर मैं यों नहीं बैठ सकता; तू लगाम लगाने देगा तभी मैं बैठ सकूंगा।" लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया, और घोड़ेने भी थोड़े समयमें उसका काम बजा दिया। अब करारके मुताबिक घोड़ेकी पीठ खाली करनी चाहिए थी, पर आदमीसे लोभ न छूटता था। वह कहता है; "देख भाई, तेरी यह पीठ मुझसे छोड़ी नहीं जाती इसलिए इतनी बात तू माफ कर। हां, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी न भूलूंगा। इसके बदलेमें मैं तेरी खिदमत करूंगा, तेरे लिए घुड़साल बनाऊंगा, तुझे दाना-घास दूंगा, पानी पिलाऊंगा, खरहरा करूंगा, जो कहेगा वह करूंगा, पर छोड़नेकी बात मुझसे न कहना।" घोड़ा बेचारा कर ही क्या सकता था? जोरसे हिनहिनाकर उसने अपनी फरियाद भगवान्‌के दरबारमें पेश की। घोड़ा त्याग चाहता था; आदमी दानकी बातें कर रहा था। भले आदमी, कम-से-कम अपना यह करार तो पूरा होने दे!

: ३ :

कृष्ण-भक्तिका रोग*

'दुनिया पैदा करें' ब्रह्माजीकी यह इच्छा हुई। इसके अनुसार कार-बार शुरू होनेवाला ही था कि कौन जाने कैसे उनके मनमें आया कि 'अपने काममें भला-बुरा बताने वाला कोई रहे तो बड़ा मजा रहेगा। इसलिए आरंभमें उन्होंने एक तेज-तर्रार टीकाकार गढ़ा। और उसे यह अख्तियार दिया कि आगेसे मैं जो कुछ गढ़ूंगा उसकी जांचका काम तुम्हारे जिम्मे रहा। इतनी तैयारीके बाद ब्रह्माजीने अपना कारखाना चालू किया। ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता। टीकाकारकी जांच के सामने कोई चीज बे-ऐब ठहर ही न पाती। "हाथी ऊपर नहीं देख पाता, ऊंट ऊपर ही देखता है। गदहे में चपलता नहीं है, बंदर अत्यंत चपल है।" यों टीकाकारने अपनी टीकाके तीर छोड़ने शुरू किये। ब्रह्माजीकी अकल गुम हो गई। फिर भी उन्होंने एक आखिरी कोशिश कर देखनेकी ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढ़ा। टीकाकार उसे बारीकी से निरखने लगा। अंत में एक चूक निकल ही आई। "इसकी छातीमें एक खिड़की होनी चाहिए थी, जिससे इसके विचार सब समझ पाते।" ब्रह्माजी बोले,—"तुझे रचा यह मेरी एक चूक हुई, अब मैं तुझे शंकरजीके हवाले करता हूं।"

यह एक पुरानी कहानी कहीं पढ़ी थी। इसके बारेमें शंका करनेको सिर्फ एक ही जगह है। वह यह कि कहानीके वर्णनके अनुसार टीका-कार शंकरजीके हवाले हुआ नहीं दीखता। शायद ब्रह्माजीको उनपर

दया आ गई हो, या शंकरजीने उनपर अपनी शक्ति न आजमाई हो। जो हो, इतना सच है कि आज उनकी जाति बहुत फैली हुई पाई जाती है। गुलामीके जमानेमें कर्तृत्व बाकी न रह जानेपर वक्तव्यको मौका मिलता है। कामकी बात खत्म हुई कि बातका ही काम रहता है! और बोलना ही है तो नित्य नये विषय कहांसे खोजे जायं? इसलिए एक सनातन विषय चुन लिया गया—"निन्दा-स्तुति जनकी; वार्ता वधू-धनकी।" पर निंदा-स्तुतिमें भी तो कुछ बाट-बखरा होना चाहिए। निंदा अर्थात् पर-निंदा और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजीने टीका-कारको भला-बुरा देखनेको तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा, ब्रह्माजीका बुरा देखा। मनुष्यके मनकी रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दूसरेके दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखाई देते हैं वैसे गुण नहीं दिखाई देते। संस्कृतमें 'विश्व-गुणादर्श-चंपू' नामका एक काव्य है। वेंकटाचारी नामके एक दाक्षिणात्य पंडितने लिखा है। उसमें यह कल्पना है कि कृशानु और विभावसु नामके दो गंधर्व विमानमें बैठकर फिर रहे हैं, और जो कुछ उनकी नजरोंके सामने आता है उसकी चर्चा किया करते हैं। कृशानु दोष-द्रष्टा है; विभावसु गुण-ग्राहक है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टिसे वर्णन करते हैं। गुणादर्श अर्थात् 'गुणोंका दर्पण' इस काव्यका नाम रखकर कविने अपना निर्णायक मत विभावसुके पक्ष-में दिया है। फिर भी कुल मिलाकर वर्णनका ढङ्ग कुछ ऐसा है कि अंत-में पाठकके मनपर कृशानुके मतकी छाप पड़ती है। गुण लेनेके इरादेसे लिखी हुई चीजकी तो यह दशा है। फिर दोष देखनेकी वृत्ति होती तो क्या हाल होता?

चंद्रकी भांति प्रत्येक वस्तुके शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष होते हैं। इसलिए दोष ढूंढ़नेवाले मनके यथेच्छ विचरनेमें कोई बाधा पड़नेवाली नहीं है। 'सूर्य दिनमें दिवाली करता है फिर भी रात को तो अंधेरा ही देता है' इतना ही कह देनेसे उस सारी दिवालीकी होली हो जायगी। उसमें भी अवगुण ही लेनेका नियम बना लिया जाय तो दो दिनोंमें

एक रात न दिखकर एक दिनके अगल-बगल दो रातें दिखाई देंगी। फिर अग्निकी ज्योतिकी ओर ध्यान न जाकर धुएंसे अग्निका अनुमान करनेवाले न्याय-शास्त्रका निर्माण होगा। भगवान्ने यह सब मजेकी बातें गीतामें बतलाई हैं। अग्निका धुआं, सूर्यकी रात अथवा चंद्रका कृष्णपक्ष देखनेवाले 'कृष्णभक्तों'का उन्होंने एक स्वतंत्र वर्ग रक्खा है। दिनमें आंखें बंद कीं तो अंधेरा और रातको आंखें खोलीं तो अंधेरा—स्थितप्रज्ञकी इस स्थितिके अनुसार इन लोगोंका कार्यक्रम है। पर भगवान्ने स्थितप्रज्ञके लिए मोक्ष बतलाया है तो इनके लिए कपाल-मोक्ष। पर इतना होनेपर भी यह संप्रदाय छुतहे रोगकी तरह बढ़ रहा है। पुतलीके काली होने या काले रंगमें आकर्षण अधिक होनेकी वजहसे काला पक्ष जैसा हमारी आंखमें भरता है वैसा उज्ज्वल पक्ष नहीं भरता। ऐसी स्थितिमें यह सांप्रदायिक रोग किस औषधिसे अच्छा होगा, यह जान रखना जरूरी है।

पहली दवा है चित्तमें भिदी हुई इस 'कृष्ण-भक्ति'को बाहरी कृष्ण न दिखाएं, भीतरके कृष्णके दर्शन कराएं। लोगोंकी कालिख देखनेकी आदी निगाहको मनके भीतरकी कालिख दिखाएं। विश्व के गुण-दोष-को जांचकर देखनेवाला मनुष्य बहुधा अपने-आपको निर्दोष मान बैठता है। उसका यह भ्रम दूर होनेपर उसके परीक्षणका डंक अपने आप टूट जाता है। बाइबिलके 'नये करार'में इस बारेमें एक सुंदर प्रसंगका उल्लेख है—एक बहनसे कोई बुरा काम शायद हो गया। उसकी जांच करके न्याय देनेके लिए पंच बैठे थे। वहां श्रवण-भक्त भी काफी तादाद में जुट गये होंगे यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। किंतु विशेषता थी कि उस बहनका सद्भाग्य भगवान् ईसाको वहां खींच लाया था। पंचोंने फैसला सुनाया। "इस बहनने घोर अपराध किया है। सब लोग पत्थरोंसे मारकर उसे शरीरसे मुक्त करें।" फैसला सुनते ही लोगोंके हाथ फड़कने लगे और आस-पासके ढेले थर-थर कांपने लगे। भगवान् ईसा-को उन ढेलोंपर दया आई। उन्होंने खड़े होकर सबसे एक ही बात

कही—'जिसका मन बिलकुल साफ हो वह पहला ढेला मारे'। जमात जरा देरके लिए ठिठक गई। फिर धीरे-धीरे वहांसे एक-एक आदमी खिसकने लगा। अंत में वह अभागी बहन और भगवान् ईसा ये दो ही रह गये। भगवान्ने उसे थोड़ा उपदेश देकर प्रेमसे विदा किया। कहानी हमें सदा ध्यानमें रखनी चाहिए।

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जो घट खोजा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

दूसरी दवा है मौन। पहली दवा दूसरेके दोष दिखे ही नहीं इसलिए है। दृष्टि-दोषसे दोष दिखनेपर यह दूसरी दवा अचूक काम करती है। इससे मन भीतर-ही-भीतर तड़फड़ायेगा। दो-चार दिन नींद भी खराब हो जायगी। पर आखिरमें थककर मन शांत हो जायगा। तानाजीके खेत रहनेपर मावले पीठ दिखा देंगे ऐसे रंग दिखाई पड़ने लगे। तब जिस रस्सीकी मददसे वे गढ़पर चढ़े थे और जिसकी मदद-से अब वे उतरनेका प्रयत्न करनेवाले थे वह रस्सी ही सूर्याजीने काट डाली। "वह रस्सी तो मैंने कभीकी काट दी है" सूर्याजीके इस एक वाक्यने लोगोंमें निराशाकी वीरश्री पैदा कर दी और गढ़ सर हो गया। रस्सी काट डालनेका तत्त्वज्ञान बहुत ही महत्त्वका है। इसपर अलगसे लिखनेकी जरूरत है। इस वक्त तो इतनेसे ही अभिप्राय है कि मौन रस्सी काट देने जैसा है। 'या तो दूसरेके दोष देखना भूल जा, नहीं तो बैठकर तड़फड़ाता रह,' मनपर यह नौबत आ जाती है। और यह हुआ नहीं कि सारा रास्ता सीधा हो जाता है। कारण, जिसको जीना है उसके लिए बहुत समयतक तड़फड़ाते बैठना सुविधाजनक नहीं होता।

तीसरी दवा है कर्मयोगमें मग्न हो रहना। जैसे आज सूत कातना अकेला ही ऐसा उद्योग है कि छोटे-बड़े सबको काफी हो सकता है, वैसे ही कर्मयोग एक ही ऐसा योग है जिसकी सर्वसाधारणके लिए बे-खटके सिफारिश की जा सकती है। किंबहुना, सूत कातना ही आजका कर्म-योग है।

सूत कातनेका कर्म-योग स्वीकार किया कि लोक निंदाको मथते रहनेकी फुर्सत ही नहीं रहती। जैसे किसान अन्नके दाने-दानेकी असली कीमत समझता है वैसे ही सूत कातनेवालेको एक-एक क्षणके महत्त्वका पता चलता है। "क्षणभर भी खाली न जाने दे" समर्थकी यह सूचना अथवा "क्षणार्ध भी व्यर्थ न खो" नारदका यह नियम क्या कहता है यह सूत कातते हुए, अक्षरशः समझमें आता है। कर्मयोगका सामर्थ्य अद्भुत है, उसपर जितना जोर दिया जाय कम है। यह मात्रा ऐसे अनेक रोगोंपर लागू है, पर जिस रोगकी उपाय-योजना इस समय की जारही है उसपर उसका अद्भुत गुण अनुभूत है।

तीन दवाएं बताई गईं। तीनों दवाएं रोगियोंकी जीभको कड़ुई तो लगेंगी, पर परिणाममें वे अतिशय मधुर हैं। आत्म-परीक्षासे मनका, मौनसे वाणीका और कर्मयोगसे शरीरका दोष झड़े बिना आत्माको आरोग्य नहीं मिलेगा। इसलिए कड़ुई कहकर दवा छोड़ी नहीं जा सकती। इसके सिवा यह दवा शहदके साथ लेनेकी है, जिससे इसका कड़ुआपन मारा जायगा। सब प्राणियों में भगवद्भाव होना मधु है। उसमें घोलकर ये तीन मात्राएं लेनेसे सब मीठा हो जायगा।

: ४ :

कविके गुण

एक सज्जनका सवाल है कि आजकल हममें पहलेकी तरह कवि क्यों नहीं हैं? इसके उत्तरमें नीचेके चार शब्द लिखता हूं—

आजकल कवि क्यों नहीं हैं? कविके लिए आवश्यक गुण नहीं हैं, इसलिए। कवि होनेके लिए किन गुणोंकी आवश्यकता होती है? अब हम इसीपर विचार करें।

कवि माने मनका मालिक। जिसने मन नहीं जीता वह ईश्वरकी सृष्टिका रहस्य नहीं समझ सकता। सृष्टिका ही नाम काव्य है। जबतक मन नहीं जीता जाता, राग-द्वेष शांत नहीं होते, तबतक मनुष्य इंद्रियों-का गुलाम ही बना रहता है। इंद्रियोंके गुलामको ईश्वरकी सृष्टि कैसे दिखाई दे? वह बेचारा तो तुच्छ विषय-सुखसे परे है। इस परेकी सृष्टिके दर्शन हुए बिना कवि बनना असंभव है। सूरदासकी आंखें उनकी इच्छाके विरुद्ध विषयोंकी ओर दौड़ा करती थीं। उन आंखोंको फोड़कर जब वह अंधे हुए तब उन्हें काव्यके दर्शन हुए। बालक ध्रुवने घोर तपश्चर्या द्वारा जब इंद्रियोंको वशमें कर लिया तब भगवान्‌ने अपने काव्यमय शंखसे उसके कपोलको छू दिया और इस स्पर्शके साथ ही उस अज्ञान बालकके मुखसे साक्षात् वेदवाणीका रहस्य व्यक्त करने-वाला अद्‌भुत काव्य प्रकट हुआ। तुकारामने जब शरीर, इंद्रिय और मनको पूर्ण रूपसे भंग किया तभी तो महाराष्ट्रको अभंग-वाणीका लाभ हुआ। मनोनिग्रहके प्रयत्नमें जब शरीरपर चींटियोंके बमीठे चढ़ जाए तब उसमेंसे आदि काव्यका उदय हुआ। आज तो हम इंद्रियोंकी

सेवाके हाथ बिक गये हैं। इसीलिए हममें आज कवि नहीं हैं।

समुद्र जैसे सब नदियोंको अपने उदरमें स्थान देता है उसी प्रकार समस्त ब्रह्मांडको अपने प्रेमसे ढक ले इतनी व्यापक बुद्धि कविमें होनी चाहिए। पत्थरमें ईश्वरके दर्शन करना काव्यका काम है। इसके लिए व्यापक प्रेम की आवश्यकता है। ज्ञानेश्वर महाराज भैंसेकी आवाजमें भी वेद श्रवण कर सके इसीलिए वह कवि हैं। वर्षा शुरू होते ही मेढकोंको टर्राता देख वसिष्ठको जान पड़ा कि परमात्माकी कृपाकी वर्षासे कृतकृत्य हुए सत्पुरुष ही इन मेढकोंके रूपमें अपने आनंदोद्गार प्रकट कर रहे हैं, और इसपर उन्होंने भक्ति-भावसे उन मेढ़कोंकी स्तुति की। यह स्तुति ऋग्वेदमें 'मंडूक-स्तुति'के नामसे ली गई है। अपनी प्रेमल वृत्तिका रंग चढाकर कवि सृष्टिकी ओर देखता है। इसीसे उसका हृदय सृष्टि-दर्शनसे नाचता है। माताके हृदयमें अपनी संतान-के प्रति प्रेम होता है इसीलिए उसे देखकर उसके स्तनोंका दूध रोके नहीं रुकता। वैसे ही सकल चराचर सृष्टिके प्रति कविका मन प्रेमसे भरा होता है, इससे उसके दर्शन हुए कि वह पागल हो जाता है। उसकी वाणीसे काव्यकी धारा बह निकलती है। वह उसे रोक ही नहीं पाता। हममें ऐसा व्यापक प्रेम नहीं। सृष्टिके प्रति उदार बुद्धि नहीं। पुत्र-कलत्र-गृहादिसे परे हमारा प्रेम नहीं गया है। फिर 'वृक्ष वल्ली आम्हां वनचरें सोयरीं'—'वृक्ष, लता और वनचर हमारे कुटुंबी हैं'— यह काव्य हमें कहांसे सूझे!

कविको चाहिए कि वह सारी सृष्टिपर आत्मिक प्रेमकी चादर डाल दे। वैसे ही उसको सृष्टिके वैभवसे अपनी आत्मा सजाना चाहिए। वृक्ष, लता और वनचरोंमें उसे आत्मदर्शन होना चाहिए। साथ ही आत्मामें वृक्ष, वल्ली, वनचरोंका अनुभव करना आना चाहिए। विश्व आत्मरूप है इतना ही नहीं बल्कि आत्मा विश्वरूप है यह कविको दिखाई देना चाहिए। पूर्णिमाके चंद्रको देखकर उसके हृदय-समुद्रमें ज्वार आना ही चाहिए, किंतु पूर्णिमाके अभावमें उसके हृदयमें भाटा न

होना चाहिए। अमावस्याके गाढ़ अंधकारमें आकाश बादलोंसे भरा होनेपर भी चंद्रदर्शनका आनंद उसे मिलना चाहिए। जिसका आनंद बाहरी जगत्में मर्यादित है वह कवि नहीं है। कवि आत्मनिष्ठ है; कवि स्वयंभू है। पामर दुनिया विषय-सुखसे झूमती है, कवि आत्मानंदमें डोलता है। लोगोंको भोजनका आनंद मिलता है; कविको आनंदका भोजन मिलता है। कवि संयमका संयम है और इसलिए स्वतंत्रताकी स्वतंत्रता है। टेनिसनने बहते झरनेमें आत्माका अमरत्व देखा, कारण अमरत्वका बहता झरना उसे अपनी आत्मामें दिखाई दिया था। कवि विश्व-सम्राट् होता है, कारण वह हृदय-सम्राट होता है। कविको जाग्रत अवस्था में महाविष्णुकी योगनिद्राके स्वप्नोंका ज्ञान होता है, और स्वप्नमें जाग्रत नारायणकी जगत्-रचना देखनेको मिलती है। कविके हृदयमें सृष्टिका सारा वैभव संचित रहता है। हमारे हृदयमें भूखका ज्ञान भरा हुआ है और मुखमें भीखकी भाषा। जहां इतना भान भी अभी स्पष्ट नहीं हुआ कि मैं स्वतंत्र हूं अथवा मनुष्य हूं वहां आत्मनिष्ठ काव्य-प्रतिभाकी आशा नहीं की जा सकती।

कविमें 'लोक-हृदयको यथावत् संप्रकाशित' करनेका सामर्थ्य होना चाहिए यह सभी मानते हैं, पर लोगोंको इस बातका ज्ञान नहीं हुआ कि सत्य-निष्ठा इस सामर्थ्यका मूलाधार है। सत्यपूत वाणीसे अमोघ वीर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। "जो सत्य होगा वही बोलूंगा," इस तरहके नैष्ठिक सत्याचरणके फलस्वरूप ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि "जो बोला जायगा वही सत्य होगा।" भवभूतिने ऋषियोंके काव्य-कौशलका वर्णन किया है कि "ऋषि पहले बोल जाते और बादमें उसमें अर्थ प्रविष्ट होता।" इसका कारण है ऋषियोंकी सत्यनिष्ठा। "समूलो वा एष परिशुष्यति। योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्।"—जो असत्य बोलता है वह समूल शुष्क हो जाता है अतः मुझे असत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रश्नोपनिषद्में ऋषिने ऐसी चिंता प्रदर्शित की है। जाज्वल्य सत्यनिष्ठामेंसे काव्यका जन्म होता है।

वाल्मीकिने पहले रामायण लिखी, बादको रामने आचरण किया। वाल्मीकि सत्यमूर्त्ति थे अतः रामको उनका काव्य सत्य करना ही पड़ा। और वाल्मीकिके राम थे भी कैसे—"द्विः शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।"—राम न दोबारा बाण छोड़ते हैं और न दो बार बोलते हैं। आदिकविकी काव्य-प्रतिभाको सत्यका आधार था। इसीसे उनके ललाटपर अमरत्वका लेख लिखा गया। सृष्टिके गूढ़ रहस्य अथवा समाज-हृदयकी सूक्ष्म भावनाएं व्यक्त कर दिखाने का सामर्थ्य चाहते हो तो सत्यपूत बोलना चाहिए। हूबहू वर्णन करनेकी शक्ति एक प्रकारकी सिद्धि है। कवि वाचासिद्ध होता है, कारण वह वांचाशुद्ध होता है। हमारी वाचा शुद्ध नहीं है। असत्यको हम खपा लेते हैं, इतना ही नहीं, सत्य हमें खटकता है। ऐसी हमारी दीन दशा है। इसलिए कविका उदय नहीं होता।

कविकी दृष्टि शाश्वत कालकी ओर रहनी चाहिए। अनंत कालकी ओर नजर हुए बिना भवितव्यताका परदा नहीं खुलता। प्रत्यक्षसे अंध हुई बुद्धिको सनातन सत्य गोचर नहीं होते। सुकरातको विषका प्याला पिलानेवाले तर्कने सुकरातको मर्त्य देखा। "मनुष्य मर्त्य है और सुकरात मनुष्य है, इसलिए सुकरात मर्त्य है।" इससे आगेकी कल्पना उस टुटपुंजिये तर्कको न सूझी, लेकिन विष-प्राशनके दिन आत्माकी सत्ताके संबंधमें प्रवचन करनेवाले सुकरातको परेका भविष्य स्पष्ट दिखाई देता था। भवितव्यताके उदरमें सत्यकी जयको छिपा हुआ वह देख रहा था। इस वजहसे वह वर्तमान युगके विषयमें बेफिक्र रहा। ऐसी उदासीन वृत्ति मनमें रमे बिना कवि-हृदयका निर्माण नहीं हो सकता। संसारके सब रस करुणरसकी गुलामीमें लगे रहनेवाले हैं, यह बात समाजके चित्तपर अंकित कर देनेका भवभूतिने अनेक प्रकारसे प्रयत्न किया। पर तत्कालीन विषयलोलुप उन्मत्त समाजको वह मान्य न हुआ। उसने भवभूतिको ही फेंक दिया। पर कविने अपनी भाषा न छोड़ी। कारण शाश्वत कालपर उसे भरोसा था। शाश्वत कालपर नजर रखनेकी हमारी

हिम्मत नहीं होती। चारों तरफसे घिरा हुआ हिरन जैसे हताश होकर आस-पास देखना छोड़ देता है और झट बैठ जाता है वैसे ही हमारी विषय-त्रस्तबुद्धिसे भावी कालकी ओर देख सकना नहीं होता। "को जाने कलकी ? आज जो मिले वह भोग लो" इस वृत्तिसे काव्यकी आशा नहीं हो सकती।

ईशावास्योपनिषद्के निम्नलिखित ब्रह्मपर मंत्रमें यही अर्थ सुझाया गया है—

> कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू।
> याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

अर्थ—कवि (१) मनका स्वामी, (२) विश्व-प्रेमसे भरा हुआ, (३) आत्मनिष्ठ, (४) यथार्थभाषी और (५) शाश्वत कालपर दृष्टि रखनेवाला होता है।

मननके लिए निम्न लिखित अर्थ सुझाता हूं—

(१) मनका स्वामित्व=ब्रह्मचर्य, (२) विश्वप्रेम=अहिंसा, (३) आत्मनिष्ठता=अस्तेय, (४) यथार्थभाषित्व=सत्य, (५) शाश्वत कालपर दृष्टि=अपरिग्रह।

: ५ :

साक्षर या सार्थक

किसी आदमीके घरमें यदि बहुत-सी शीशियां भरी धरी हों तो बहुत करके वह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा हम अनुमान करते हैं। पर किसीके घरमें बहुत-सी पोथियां पड़ी देखें तो हम उसे सयाना समझेंगे। यह अन्याय नहीं है क्या? आरोग्यका पहला नियम है कि अनिवार्य हुए बिना शीशीका व्यवहार न करो। वैसे ही जहां तक संभव हो पोथीमें आंखें न गड़ाना या कहिए आंखोंमें पोथी न गड़ाना, यह सयानेपनकी पहली धारा है। शीशीको हम रोगी शरीरका चिह्न मानते हैं। पोथीको भी—फिर वह सांसारिक पोथी हो चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मनका चिह्न मानना चाहिए।

सदियां बीत गईं जिनके सयानेपनकी सुगंध आज भी दुनियामें फैली हुई है, उन लोगोंका ध्यान जीवनको साक्षर करनेके बजाय सार्थक करनेकी ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, उसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाजमें बिना ढूंढ़े मिल जायंगे। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी सार्थक हो सकता है, इसके अनेक उदाहरण इतिहासने देखे हैं। बहुत बार 'सु'-शिक्षित और 'अ'-शिक्षितके जीवनकी तुलना करनेसे 'अक्षराणामकारोऽस्मि' गीताके इस वचनमें कहे अनुसार 'सु'-के बजाय 'अ' ही पसंद करने लायक जान पड़ता है।

पुस्तकमें अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तककी संगतिसे जीवनको सार्थक करनेकी आशा रखना व्यर्थ है। "बातोंकी कढ़ी और बातोंका ही भात खाकर पेट भरा है किसीका?" यह सवाल मार्मिक है। कविके कथनानुसार पोथीका कुआं डुबाता भी नहीं और पोथीकी नैया तारती

भी नहीं। 'अश्व' मानी 'घोड़ा' यह कोषमें लिखा है। बच्चे सोचते हैं 'अश्व' शब्दका अर्थ कोषमें लिखा है। पर यह सही नहीं है। 'अश्व' शब्दका अर्थ कोशके बाहर तबेलेमें बंधा खड़ा है। उसका कोषमें समाना संभव नहीं। 'अश्व' मानी 'घोड़ा' यह कोषका वाक्य इतना ही बतलाता है कि, "अश्व शब्दका वही अर्थ है जो घोड़ा शब्दका है"। वह है क्या सो तबेलेमें जाकर देखो। कोषमें सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तकमें अर्थ नहीं रहता। अर्थ सृष्टिमें रहता है। जब यह बात अक्लमें आयेगी तभी सच्चे ज्ञानकी चाट लगेगी।

जिसने जपकी कल्पना ढूंढ़ निकाली उसका एक उद्देश्य था साक्षरत्वको संक्षिप्त रूप देना। 'साक्षरत्व बिलकुल भूंकने ही लगा है' यह देखकर 'उसके मुंहपर जपका टुकड़ा फेंक दिया जाय' तो बेचारेका भूंकना बंद हो जायगा और जीवन सार्थक करनेके प्रयत्नको अवकाश मिल जायगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकिने शतकोटि रामायण लिखी। उसे लूटनेके लिए देव, दानव और मानवके बीच झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा मिटता न देखकर शंकरजी पंच चुने गये। उन्होंने तीनोंको तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक बांट दिये। एक करोड़ बचे। यों उत्तरोत्तर बांटते-बांटते अंतमें एक श्लोक बच रहा। रामायणके श्लोक अनुष्टुप छंदके हैं। अनुष्टुप छंदके अक्षर होते हैं बत्तीस। शंकरजीने उनमें-से दस-दस अक्षर तीनोंको बांट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन-से थे? 'रा-म'। शंकरजीने वे दोनों अक्षर बंटवारेकी मजदूरीके नामपर खुद ले लिये। शंकरजीने अपना साक्षरत्व दो अक्षरोंमें खत्म कर दिया; तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञानकी बराबरी न कर सका। संतोंने भी साहित्यका सारा सार रामनाममें ला रखा है। पर 'अभाग्या नरा पामरा हें कले ना'—इस अभागे पामर नरको यह नहीं सूझता।'

संतोंने रामायणको दो अक्षरोंमें समाप्त किया। ऋषियोंने वेदोंको एक ही अक्षरमें समेट रखा है। साक्षर होनेकी हवस नहीं छूटती तो

'ॐ'कारका जप करो, बस। इतनेसे काम न चले तो नन्हा-सा मांडूक्य उपनिषद् पढ़ो। फिर भी वासना रह जाय तो दशोपनिषद् देखो। इस मतलबका एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद्में आया है। उससे ऋषिका इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषिका यह कहना नहीं है कि एक अक्षरका भी जप करना ही चाहिए। एक वा अनेक अक्षर घोखनेमें जीवनकी सार्थकता नहीं है। वेदोंके अक्षर पोथीमें मिलते हैं, अर्थ जीवन-में खोजना है। तुकारामका कहना है कि उन्हें संस्कृत सीखे बिना ही वेदोंका अर्थ आगया था। इस कथनको आजतक किसीने अस्वीकार नहीं किया। शंकराचार्यने आठवें वर्षमें वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इससे किसी शिष्यने आश्चर्य-चकित होकर किसी गुरुसे पूछा—"महाराज, आठ वर्षकी उम्रमें आचार्यने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया?" गुरुने गंभीरतासे उत्तर दिया, आचार्यकी बुद्धि बचपनमें उतनी तीव्र नहीं रही होगी, इसीसे उन्हें आठ वर्ष लगे।"

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया। क्योंकि 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' अंतमें किसीकी सलाहसे उसने खेतमें काम करना शुरू किया। उससे नीरोग होकर थोड़े ही दिनोंमें हृष्ट-पुष्ट हो गया। अनुभवसे सिद्ध हुई यह आरोग्य-साधना वह लोगोंको बतलाने लगा। किसीके हाथमें शीशी देखी कि बड़े मनोभावसे सीख देता, "शीशीसे कुछ होने-जानेका नहीं; हाथमें कुदाल लो तो चंगे हो जाओगे।" लोग कहते, "तुम तो शीशियां पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमें मना करते हो।" दुनियाका ऐसा ही हाल है। दूसरेके अनुभवसे सयानापन सीखने-की मनुष्यकी इच्छा नहीं होती। उसे स्वतंत्र अनुभव चाहिए, स्वतंत्र ठोकर चाहिए। मैं हितकी बात कहता हूं कि "पोथियोंसे कुछ फायदा नहीं है। फिजूल पोथियोंमें न उलझो"; तो वह कहता है, "हां, तुम तो पोथियां पढ़ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो!" "हां, मैं पोथियां पढ़ चुका, पर तुम न चूको इसलिए कहता हूं।" वह कहता है "मुझे अनुभव चाहिए"—"ठीक है। लो अनुभव। ठोकर

खानेका स्वतंत्र्य तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।'' इतिहासके अनुभवों-से हम सबक नहीं लेते। इसीसे इतिहासकी पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहासकी कद्र करें तो इतिहाससे आगे बढ़ जायें। इतिहासकी कीमत न लगानेसे उसकी कीमत नाहक बढ़ गई है; पर जब इस ओर ध्यान जाय तब न!

: ६ :

दो शर्तें

स्वराज्यका आंदोलन अबतक प्रायः शहरोंमें ही चलता था। पर अब धीरे-धीरे लोगोंके दिमागमें यह आने लगा है कि गांवोंमें जाकर काम करना चाहिए। पर गांवोंमें जाना है तो ग्रामीण बनकर जाना चाहिए। शिक्षक किसलिए ? 'उत्तम नागरिक बनानेको', ऐसा हम आजतक कहते आये हैं या अंग्रेजी विद्या हमसे वैसा कहलाती रही है। पर 'नागरिक' उर्फ 'शहराती' आदमी बनाना, शिक्षणकी यह नीति स्वराज्यके काम आनेवाली है। यह बात ध्यानमें रखे बिना चारा नहीं है। हमें समझना चाहिए कि ग्रामीण बनानेकी शिक्षा ही सच्चा शिक्षण है। उसी पायेपर स्वराज्यकी रचना की जा सकेगी।

गांवमें जाना चाहिए यह तो समझमें आने लगा है, पर ग्रामीण बनना चाहिए यह आज भी मनमें उतना नहीं जमा है। यह वैसी ही बात हुई कि झोंपड़ीमें तो जाना है पर ऊंटसे उतरना नहीं है। अभी यह समझना बाकी है कि ऊंटसे उतरे बिना झोंपड़ीमें प्रवेश नहीं हो सकता। मैं गांवमें जाऊंगा और शहरका सारा ठाट साथ लेकर जाऊंगा। इसका मतलब यही है कि मैं गांवको शहर बनाऊंगा। इसी मतलबसे गांवमें जाना हो तो इससे तो न जाना ही अच्छा है। चाकरीकी शर्त है 'शिव बनकर शिवको पूजना।' किसानकी चाकरी करनी हो तो वह किसान बनकर ही की जा सकती है।

राष्ट्रीय पाठशालाओंको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए। नाजुक शहराती बनानेकी हवस छोड़कर करारे किसान तैयार करनेका मनसूबा बांधना चाहिए। हमारे शिक्षित लोग अगर जरा जफाकश हुए तो अंग्रेजों-

को वे चुभने लगेंगे, और वे जरूर उनके रास्तेमें अड़चनें पैदा करेंगे। पर हमें उसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। अंग्रेज कहेंगे, "अंग्रेजी सीखो, नहीं तो अंधकारमें पड़े रहोगे। अंग्रेजी सीख जानेसे जगका ज्ञान तुम्हारी मुट्ठीमें आ जायगा।" हमें उनसे इतना ही कहना चाहिए कि "जगका ज्ञान कि जगनेका[1] ज्ञान, हमारे सामने यह 'नकद' सवाल है। सारा जग हमारी मुट्ठीमें गिनती करता है, इतना समझने भरका ज्ञान हमें हो चुका है।" अंग्रेजीके ग्रहणसे छूटना ही चाहिए। इसके बिना राष्ट्रीय विद्यालयोंका तेज फैलनेवाला नहीं है। अंग्रेजी-पढ़ा आदमी किसानोंसे बोल भी नहीं सकता, किसान बननेकी बात तो दूर रही। उसकी और किसानोंकी भाषा ही नहीं मिलती। किसानोंकेलिए उसके दिलमें नफरत रहती है। गांवमें रहना उसके लिए नामुमकिन है। इसलिए अंग्रेजीके मोहको धता बताये बिना उपाय नहीं। इसके मानी यह नहीं हैं कि कोई भी अंग्रेजी न पढ़े। अंग्रेजी पढ़नेके लिए हम आजाद हैं। पर अंग्रेजी पढ़नेकेलिए हम बंधे न हों। राष्ट्रीय पाठशालाओंको अंग्रेजी सीखनेकी मजबूरी दूर कर देनी चाहिए और मजदूरीपर जोर देना चाहिए। शारीरिक श्रमके बिना गांवके काव्यका अनुभव नहीं हो सकता।

मराठी पाठशालाओंमें पढ़ते समय हमारे पाठ्य-क्रममें 'सृष्टि-ज्ञान'की एक पोथी नियत थी। 'सृष्टि-ज्ञान'की भी पोथी! इस पोथीके सृष्टि-ज्ञानके बलपर हम जगको अनाड़ी कहेंगे। और गांवमें जायेंगे भी तो उन अनाड़ी किसानोंको 'सिखाने'। हमें गांवोंमें जाना चाहिए पर मुख्यतः सीखनेके लिए, सिखानेके लिए नहीं। हमारे ध्यानमें यह बात नहीं आती कि गांववालोंको सिखाने लायक हमारे पास दो-चार चीजें हुईं भी तो उनसे सीखनेकी दस-बीस चीजें हैं। कारण, मदरसेके किताबी ज्ञानसे हमारी निगाह भटक गई है। जब हमें मजदूरीका महत्त्व सिखाया जायगा तभी हमारी दृष्टि स्थिर और स्वच्छ होगी, और गांवमें काम करनेका तरीका भी सूझने लगेगा।

---

1. जगणें=जीना

पर वर्त्तमान पद्धतिके अनुसार तालीम पाये हुए बहुतेरे लोग देश-सेवाके उम्मीदवार बनकर आते हैं। वे क्या करें ? मेरी समझमें उनका उपयोग हम जरूर कर सकेंगे। पर इस बीचमें उन्हें दो चीजें सीख लेनी होंगी—(१) अंग्रेजी विद्याकी सिखाई हुई बातें भूल जाना, (२) शारीरिक श्रमकी आदत डालना। ये दो बातें आ जानेपर वे काम कर सकेंगे। आज अपने देशको हरएक मजदूरकी मजदूरीकी जरूरत है। जितने लोग आयें कम हैं।

: ७ :

फायदा क्या है ?

कहते हैं, रेखागणितकी रचना पहले-पहल यूक्लिडने की। वह ग्रीस (यूनान) का रहनेवाला था। उसके समयमें ग्रीसके सब शिक्षितोंके दिमाग राजनीतिसे भर गये थे—या यों कहिए कि उनके दिमागोंमें राजनीतिके पत्थर भरे हुए थे। इस वजहसे रेखा-गणितके कद्रदां दुर्लभ हो गये थे और यूक्लिड तो रेखागणितपर मुग्ध था। फिर भी जैसे आज चरखेपर मुग्ध एक मानवने बहुतेरे राजनीति-विशारदोंको चक्करमें डाल दिया है, वैसे ही यूक्लिडने भी बहुतेरे राजनीतिज्ञोंको रेखाएं खींचनेमें लगा दिया था। रोज यूक्लिडके घरपर रेखा-गणितके शिक्षार्थियोंका जमघट लगता और वह उन्हें अपना आविष्कार कुशलतापूर्वक समझाता।

बहुतेरे राजनीतिज्ञोंको यूक्लिडकी ओर आकर्षित होते देख कर राजाके मनमें आया, 'हम भी चल देखें, कुछ फायदा होगा।' उसने हफ्ते भर यूक्लिडके पास रेखा-गणित सीखा। अंतमें उसने यूक्लिडसे पूछा; "मुझे आज रेखा-गणित सीखते सात दिन हो गये, पर यह न समझमें आया कि इससे फायदा क्या है?" यूक्लिडने गंभीरतापूर्वक अपने एक शिष्यसे कहा, "'सुनोजी,इन्हें चार आने रोजके हिसाबसे सात दिनके पौने दो रुपये दे दो।" फिर राजाकी ओर मुखातिब होकर कहा, "तुम्हारा इस हफ्तेका काम पूरा हो गया कलसे तुम कहीं और काम ढूंढ़ो।" क्या वह राजनीति-कुशल राजा झेंपनेके बजाय पौने दो रुपये पल्ले पड़नेसे खुश हुआ होगा? हम लोगोंकी मनोवृत्ति उस ग्रीक राजाकी-सी बन गई है।

हर बातमें फायदा देखनेकी बहुतोंको आदत पड़ गई है। सूत

कातनेसे क्या फायदा है, इससे लेकर स्वराज्य हासिल होनेतकके फायदेके बारेमें खचियों सवाल होते हैं। ये फायदावादी लोग अपनी फायदेवाली अक्लको जरा और आगे हांक ले जायं तो तत्त्वज्ञानकी ठेठ चोटीपर पहुंच जायंगे। तत्त्वज्ञानके शिखरसे ये लोग केवल एक प्रश्नके ही पीछे हैं और यह प्रश्न है—'फायदेसे भी क्या फायदा है ? 'एक लड़का अपने बापसे कहता है, "बाबूजी, गाय-भैंसका फायदा तो समझमें आता है कि उनसे हमें रोज दूध पीनेको मिलता है; लेकिन कहिए तो इन बाघ-बघेरों और सांपके होनेसे क्या फायदा है ?" बाप जवाब देता है, "समूची सृष्टि मनुष्यके फायदेके लिए ही है, इस बेकारकी गलतफहमीमें हम न रहें, यही इनका फायदा है।"

कालिदासने एक जगह मनुष्यको 'उत्सव-प्रिय' कहा है। कालिदास-का मनुष्य-स्वभावका ज्ञान गहरा था और इसीसे यह कवि कहलानेके अधिकारी हुए। सभीका अनुभव है कि मनुष्यको उत्सव प्रिय है, लेकिन क्यों प्रिय है ? पाठशालाके लड़कोंको रविवारकी छुट्टी क्यों प्यारी लगती है ? छः दिन दीवारोंके घेरेमें घिरे रहनेके बाद रविारको जरा स्वच्छंदतासे सांस ले पाते हैं इस कारण। मनुष्यको उत्सव प्यारा क्यों है इसका भी उत्तर ऐसा ही है। दुःखोंसे दबा हुआ हृदय उत्सवके कारण हलका हो जाता है। हमारे घर अट्ठारह बिस्वे दारिद्र्य रहता है इसीसे ही लड़केका ब्याह रचनेपर हम जेवनारमें अट्ठारह दूना छत्तीस व्यंजन बनाना नहीं भूलते। सारांश यह कि मनुष्य उत्सव-प्रिय है, यह उसके जीवनके दुःख-मय होनेका सबूत है। वैसे ही आज जो हमारी बुद्धि सिर्फ फायदावादी बन गई है यह हमारे राष्ट्रके महान् बौद्धिक दिवालियेपनका सबूत है।

हमेशा फायदेकी शरणमें जानेकी बान पड़ जानेसे हमारे समाजमें साहसका ही अभाव-सा हो रहा है। इसके कारण ब्राह्मण-वृत्ति, क्षात्र-वृत्ति और वैश्य-वृत्ति लुप्त-सी हो रही है। ब्राह्मणके मानी हैं साहसकी साक्षात् प्रतिमा। मृत्युके परले पारकी मौज लेनेके निमित्त जीवनकी आहुति देनेवाला ब्राह्मण कहलायेगा। फायदा कहेगा, "मौतके बादकी बात किसने

देखी है ? हाथका घड़ा पटककर बादलका भरोसा क्यों करें ?" फायदेके कोषमें साहस शब्द मिलना ही संभव नहीं। और मिल भी गया तो उसका अर्थ लिखा होगा 'मूर्खता' ! यदि फायदेके कोषसे जीवन-गीताकी संगति बिठाई जाय तो फल-त्यागकी अपेक्षा त्यागका फल क्या है यह प्रश्न पैदा हो जायगा। ऐसी स्थितिमें सच्ची ब्राह्मण-वृत्तिके लिए ठौर ही कहां रहेगा ? "त्याग करना, साहस करना, यह सब ठीक है" फायदावादी कहता है—"पर क्या त्यागके लिए ही त्याग करनेको कहते हो ?" "नहीं त्यागके लिए त्याग नहीं कहता—फायदेके लिए त्याग सही।" "पर वह फायदा कब मिलना चाहिए, इसकी कोई मीयाद बताइएगा या नहीं ?" "तुम्हारा कोई कायदा है कि फायदा कितने दिनमें मिलना चाहिए ?" वह कहेगा—"त्यागके दो दिन पहले मिल जाय तो अच्छा है।" समर्थ गुरु रामदासने 'लोगोंके लालची स्वभाव'का वर्णन करते हुए कार्यारंभमें देव (ईश्वर) का नाम लेना चाहिए', इस कथनका अर्थ फायदेके कोषके अनुसार किया है—"कार्यारंभी देव, अर्थात् कामके शुरूमें कुछ तो देव (दो)।" सारांश, फल ही देव है और वह काम करनेके पूर्व मिलना चाहिए, इसका नाम है बाकायदा तत्त्व-ज्ञान ! जहां (बेचारे) देव (ईश्वर) की यह दशा है वहां ब्राह्मण-वृत्तिकी बात ही कौन पूछता है ?

परलोकके लिए इस लोकको छोड़नेवाला साहस तो सरासर पागलपन है, इसलिए उसका तो विचार ही नहीं करना है। इससे उतरकर हुई क्षात्र-वृत्ति उर्फ मिलावटी पागलपन। इहलोकमें बाल-बच्चे, अड़ोसी-पड़ोसी या देशकी रक्षाके लिए मरनेकी तैयारीका नाम है क्षात्र-वृत्ति। पर 'आप मरे तो जग डूबा' यह फायदेका सूत्र लगाकर देखिए तो इस मिलावटी पागलपनका मतलब समझमें आ जायगा। राष्ट्रकी रक्षा क्यों, अथवा स्वराज्य क्यों ? मेरे फायदेके लिए। और जब मैं ही चल बसा तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा ? यह भावना आई कि क्षात्र-वृत्तिका साहस बिदा हुआ।

बाकी रही वैश्य-वृत्ति। पर वैश्य-वृत्तिमें भी कुछ कम साहस नहीं चाहिए! अंग्रेजोंने दुनियाभरमें अपना रोजगार फैलाया तो बिना हिम्मत-के नहीं फैलाया है। इंग्लैंडमें कपासकी एक डोंडी भी नहीं पैदा होती और आधेसे अधिक हिंदुस्तानको कपड़ा देनेकी करामात कर दिखाई! कैसे ? इंग्लैंडके इतिहासमें समुद्री यात्राओंके प्रकरण साहसोंसे भरे पड़े हैं। कभी अमेरिकाकी यात्रा तो कभी हिंदुस्तानका सफर; कभी रूसकी परिक्रमा तो कभी सु-आशा अंतरीपके दर्शन; कभी नील नदीके उद्गम-की तलाश है तो कभी उत्तरी ध्रुवके किनारे पहुंचे हैं। यों अनेक संकट-भरे साहसोंके बाद ही अंग्रेजोंका व्यापार सिद्ध हुआ है। यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रोंकी गुलामीका कारण हुआ इसीसे आज वह उन्हींकी जड़ काट रहा है। पर जो हो, साहसी स्वभावको तो सराहना ही होगा। हममें इस वैश्य-वृत्तिका साहस भी बहुत कुछ नहीं दिखाई देता। कारण—फायदा नहीं दिखता।

जबतक तकलीफ सहनेकी तैयारी नहीं होती तबतक फायदा दिखनेका ही नहीं। फायदेकी इमारत नुकसानकी धूपमें बनी है।

: ८ :

गीता-जयंती

कुरुक्षेत्रकी रण-भूमिपर अर्जुनको गीताका उपदेश जिस दिन दिया गया वह मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीका दिन था, ऐसा विद्वानोंने निश्चित किया है। इसे सही मानकर चलनेमें कोई हर्ज नहीं है। इससे 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं'—महीनोंमें मार्गशीर्ष महीना मेरी विभूति है, इस वचनको विशेष अर्थ प्राप्त होता है। उस दिन हिंदुस्तान-भरमें सर्वत्र गीताका स्वाध्याय—प्रवचन हो, ऐसी सूचना की गई है।

सुझाव उचित ही है। पर यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि गीताधर्मका प्रचार केवल प्रवचन और श्रवणसे न होगा। गीता जबानी जमा-खर्चका शास्त्र नहीं, किंतु आचरण-शास्त्र है। उसका प्रचार आचरण बिना और किसी तरह भी नहीं होनेका। गीताका धर्म खुला धर्म है। किसीके लिए उसके सुननेकी मनाही नहीं। स्त्री, वैश्य, शूद्र, जिनमें वेदके गहरे कुएंसे पानी निकालनेकी शक्ति नहीं है उनके लिए गीताके बहते झरनेसे मनमाना पानी पीनेकी सुविधा संभव है। गीता-मैयाके यहां छोटे-बड़ेका भेद नहीं है, बल्कि खरे-खोटेका भेद है। जिसकी तपश्चर्या करनेकी तैयारी नहीं है, जिसके हृदयमें भक्तिका प्रवाह नहीं, सुननेकी जिसकी तीव्र इच्छा नहीं, अथवा जिसकी बुद्धिमें निर्मत्सर-भाव नहीं उसके सामने यह रहस्य भूलकर भी प्रकट मत करना—भगवान्‌ने अर्जुनको यह आदेश दिया है।

गीताके प्रचारके मानी हैं निष्काम कर्मका प्रचार; गीताके प्रचारके मानी हैं भक्तिका प्रचार; गीताके प्रचारके मानी हैं त्यागका प्रचार।

यह प्रचार पहले अपनी आत्मामें होना चाहिए। जिस दिन उससे आत्मा परिपूर्ण होकर बहने लगेगी उस दिन वह दुनियामें फैले बिना न रहेगा। गीतापर आजतक हिंदुस्तानमें प्रवचनोंकी कमी नहीं रही है। तरह-तरहकी टीकाएं भी लिखी गई हैं। गीताके तात्पर्यके संबंधमें समाचारपत्रों आदिमें पुराने, नये शास्त्री-पंडितोंका वाद-विवाद भी काफी हुआ है। पर अनुभवसे यह नहीं जान पड़ता कि इनसे साक्षात् निष्काम कर्मको कुछ उत्तेजन मिला हो। उलटा, उससे रजोगुणका तो जोर बढ़ा है। मन-भर चर्चाकी अपेक्षा कन-भर अर्चा श्रेष्ठ है। 'उठ भोर रामका चिंतन कीजै' इस वाक्यके लिखनेवालेका उद्देश्य यह नहीं है कि इसे घोखता बैठे, बल्कि यह है कि प्रातःकाल उठकर रामका चिंतन करें।

गीताका रहस्य गीताकी पोथी में छुपा हुआ नहीं है। वह तो खुला हुआ है। भगवान् खुद ही कहते हैं कि मैंने उसे सूर्यसे कहा है। इतना खुला है कि जिसके आंखें हों वह उसे देख सकता है। और यदि छिपा हुआ ही है तो गीताकी पोथीमें तो निश्चय ही नहीं छिपा है। वह हृदयकी गुफामें छिपा है। इस गुफाके मुंहपर दुर्वर्तनके पत्थरोंका ढेर लग गया है। उन्हें हटाकर अंदर देखना चाहिए। उसके लिए मेहनत करनी पड़ेगी। गीता'कुरु' क्षेत्रमें कही गई है। संस्कृतमें 'कुरु'का अर्थ है कर्म कर। कुरुक्षेत्र मानो कर्मकी भूमि। इस कर्मकी भूमिकापर गीता कही गई है। और वहीं उसे मेहनतके कानोंसे सुनना है।

बहुतेरोंकी समझ है कि मिशनरी लोग जैसे बाइबिलकी प्रतियां मुफ्त बांटते हैं, उसपर व्याख्यान देते फिरते हैं, कोई सुने न सुने अपना राग अलापे जाते हैं, वैसे ही हम गीताके बारेमें करें तो हमारे धर्मका प्रचार होगा। पर यह कोरा वहम है। मिशनरियोंने जो बहुत थोड़ा-सा सच्चा धर्म-प्रचार किया है वह उनमेंके कुछ सज्जनोंकी सेवाका फल है। बाकीका उनका धर्म-प्रचार दंभ है। पर इस दंभसे उनके काम-को नुकसान पहुंचा है। उनके अनुकरणसे हमारा कोई लाभ नहीं होता।

अतः गीता-जयंतीके दिन गीताके प्रचारकी बाह्य कल्पनापर जोर न देकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हाथसे कुछ-न-कुछ निष्काम सेवा बने। साथ ही, भक्ति-युक्त चित्तसे यथाशक्ति गीताका थोड़ा-सा पाठ करना भी उपयुक्त है।

: ९ :

पुराना रोग

अस्पृश्यताके हिमायती एक दलील यह पेश किया करते हैं कि यह पुरातन कालसे चली आ रही है। पर यह बात दलील कैसे हो सकती है, यह समझना कठिन है। माना कि 'पुरानी पूंजी'की रक्षा करनी चाहिए। पर रक्षामें बढ़ाना, जीर्णोद्धार करना वगैरह कई बातें शामिल हैं। अपना पुराना घर तो प्यारा लगता है। पर क्या उसमेंके चूहों और छछूंदरोंके बिल भी प्यारे होंगे? पेटकी संतान प्यारी होनेसे क्या पेट-का रोग भी प्यारा होगा? और वह भी पुराना रोग? फिर उसका इलाज करायें क्या? जीर्णोद्धारमें भी बाधा देनेवाली इस जीर्ण-भक्ति-को क्या कहा जाय? साक्षात् उपनिषद्के ऋषियोंने यह स्पष्ट आज्ञा की है, "यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।" —हमारे जो अच्छे काम हैं उनका अनुकरण करो, दूसरे कामोंका नहीं। हम अपनी विवेक-बुद्धिसे इस्तीफा देकर साफ तौरसे उनकी आज्ञा-भंग करते हैं और उलटे मानते हैं कि हम उनकी आज्ञा पालते हैं। यह आत्म-वंचना नहीं तो क्या है?

इसमें भी 'भूतको भागवतका आधार' मिलनेवाली बात हो जाने-पर तो आत्म-वंचनाकी हद हो जाती है। कहते हैं अस्पृश्यताके लिए आधार है आदि शंकराचार्यका! अद्वैतके सिद्धांतका प्रतिपादन करना जिनका जीवन-कार्य था, अमंगल 'भेदाभेद भ्रम'को उनका आधार! कैसा अचरज है! संतोंका आधार लेना ही हो तो उनके उत्तर-चरित्रसे लिया जाता है, पूर्व-चरित्रमेंसे नहीं लिया जाता। शंकराचार्यके चरित्रमें जो चांडालकी कथा है वह उनके पूर्व-चरित्रकी है। उस आधारपर अगर

अस्पृश्यता मान्य ठहराई जाय तो वाल्मीकिके (पूर्व-चरित्रके) आधारपर ब्रह्म-हत्या भी मान्य ठहरेगी ! और फिर अमान्य क्या रहा जायगा ? कारण, साधु हुआ तो भी साधुत्वकी योग्यता प्राप्त होनेके पूर्व तो वह साधु नहीं ही होता। उस समयके उसके चरित्रमें चाहे जो मिल जायगा। इसीलिए कहावत है, "ऋषिका कुल मत देखो।" देखना ही हो तो उसका उत्तर-चरित्र देखना चाहिए, और सो भी विवेक साथ रखकर। पूर्व-चरित्र देखनेसे क्या मतलब ?

आचार्यके चरित्रमें वर्णित चांडालकी कहानी यों है—आचार्य एक बार काशी जा रहे थे और उसी रास्तेपर एक 'चांडाल' चला आ रहा था। उन्होंने उसे हट जानेको कहा। तब चांडालने उनसे पूछा—"महाराज, अपने अन्नमय शरीरसे मेरे अन्नमय शरीरको आप परे हटाना चाहते हैं या अपनेमें स्थित चैतन्यसे मेरे अंदरके चैतन्यको ? शरीर किसीका हो वह स्पष्टतः 'गंदगीकी गठरी' है। और आत्मा तो सर्वत्र एक और अत्यंत शुद्ध है। ऐसी स्थितिमें अस्पृश्यता किसकी और किसके लिए ?" यह उसके प्रश्नका भाव है। पर इतना कहकर ही वह चांडाल चुप नहीं रहा। उसने फटकार और आगे बढ़ाई—'गंगाजलके चंद्रमा और हमारे हौजके चंद्रमामें कुछ अंतर है ? सोनेके कलसेके आकाशमें और हमारे मिट्टीके घड़ेके आकाशमें कुछ फर्क है ? सर्वत्र आत्मा एक ही है न ? फिर यह ब्राह्मण और वह अंत्यजका भेद-भ्रम आपने कहांसे निकाला ?'—'विप्रोऽयं श्वपचोऽयमित्यपि महान् कोऽयं विभेदभ्रमः।' इतनी फटकार सुनकर आचार्यके कान ही नहीं आंखें भी खुल गईं और नम्रतासे उसे नमस्कार करके बोले, "आप सरीखा मनुष्य, फिर चाहे वह चांडाल हो या ब्राह्मण, मेरे लिए गुरुस्थानीय हैं।',—चांडालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।" इस बात-चीतसे क्या अनुमान निकाला जाय यह पाठक ही तय कर लें।

जिस रास्ते अपने बड़े-बड़े गये उस रास्ते हमें जाना चाहिए, यह

मनुने भी कहा है। पर वह 'सन्मार्ग' हो तो, वह उन्हींका बताया हुआ अपवाद है। वह श्लोक देकर यहीं समाप्त करता हूं।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् 'सतां मार्गं' तेन गच्छन्न रिष्यति॥

: १० :

श्रवण और कीर्तन

प्रह्लादने नौ प्रकारकी भक्ति कही है। उनमें भक्तिके दो प्रकार श्रवण और कीर्तनको बिलकुल आरंभमें रखा है। भक्ति-मार्गमें श्रवण-कीर्तनकी बड़ी महिमा गाई है। सुनी हुई वस्तुको बार-बार सुनना, कही हुई ही बातको बार-बार कहना भक्तोंकी रीति है। तीनों लोकमें विचरना और बराबर बोलते रहना नारद-सरीखोंका जन्मका धंधा है। उच्च-वर्गके लोगोंमें, मध्यम वर्गके लोगोंमें, निचले वर्गके लोगोंमें—तीनों लोकोंमें ही नारदजीकी फेरी होती है और बराबर कीर्तन चलता है। कीर्तनका विषय एक ही है। वही भक्त-वत्सल प्रभु; वही पतित-पावन नाम। दूसरा विषय नहीं; दूसरी भाषा नहीं, वही गाना, वही रोना, वही कहना, वही चिल्लाना। न आलस्य है, न परेशानी; न थकावट है, न विश्राम; गाते-गाते फिरना और फिरते-फिरते गाना!

जैसे नारद-सरीखोंके लिए निरंतर गाना है वैसे धर्मराज-सरीखोंके लिए सतत सुनना। महाभारतके वनपर्व और शांतिपर्व ये दोनों विशाल पर्व धर्मराजकी श्रवण-भक्तिके फल हैं। वनवासमें रहते समय जो कोई ऋषि मिलने आता, धर्मराज उसकी खुशामद करते। भक्ति-भावसे प्रणि-पात करके जो सेवा बनती करते और जहां ऋषिने कुशल-प्रश्न किया कि अपनी करुण कहानी कहनेका निमित्त बनाकर लगते प्रश्न पूछने, "महाराज, द्रौपदीपर आज जैसा संकट है, वैसा आजतक कभी किसी-पर पड़ा था क्या?" वह कहते, "क्या पूछते हैं यह आप? बड़ों-बड़ों-ने जो कष्ट सहे हैं उनके मुकाबलेमें तो द्रौपदीका और आपका कष्ट किसी गिनतीमें नहीं है। सीताको, रामको, क्या कम कष्ट सहने पड़े?" धर्म-

राज पूछते, "सो कैसे?" इतना सहारा पा जानेके बाद ऋषिका व्याख्यान चलता। सारी राम-कहानी अथसे इतितक कहते और वह प्रेम-युक्त चित्तसे सुनते। दूसरे किसी अवसरपर ऐसे ही कोई ऋषि आकर नल-दमयंतीका नाम ले लेते तो धर्मराज फौरन सवाल करते, "वह क्या कथा है?" अब रामकी सीता कौन थी और नल दमयंतीकी कथा क्या है, इतिहासका इतना अज्ञान धर्मराजमें होना कैसे माना जा सकता है? पर जानी हुई कथा भी संतोंके मुखसे सुननेमें एक विशेष स्वाद होता है। इसके सिवा वही वस्तु बारंबार सुननेसे विचार दृढ़ होता है। इसीलिए धर्मराज ऐसे श्रवण-प्रेमी बन गए थे।

पर पुरानी बात जाने दीजिए। बिलकुल इसी जमानेका उदाहरण लीजिए। नारदकी तरह ही तुकाराम महाराजने अंतिम घड़ीतक कीर्तन-भक्तिकी गूंज जारी रखी। रोज रातको भगवान्के मंदिरमें जाकर कीर्तन करनेका उनका क्रम आमरण अबाधित रूपसे चला। लोग जायं, न जायं, भगवान्के सामने कीर्तन तो होगा ही। न सुननेवाले देवताको भी कीर्तन सुनाना जिनका व्रत हो गया था वे यदि सुननेवाले देवताओं-को 'यथाधिकार' उपदेश करनेका काम जोरोंसे करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या? समाजकी बिलकुल निचली श्रेणीसे लेकर ठेठ ऊपरकी श्रेणी-तक सबको तुकाराम महाराजने भगवान्का नाम सुनाया। घरमें, मंदिर-में, घाटमें, बाटमें, सर्वत्र वही एक-सा सुर। पत्नीको, बेटेको, भाईको, जमाई को, गांवके मुखियाको, देशके शासकको, शिवाजी महाराजको रामेश्वर भट्टको, अंबाजी बुआको—सबको तुकाराम महाराजने हरिनाम-का एक ही उपदेश किया और आज भी उसकी अभंग वाणी वही काम अव्याहत रूपसे कर रही है।

इधरके इतिहासमें जैसे तुकाराम-सरीखे 'सदा बोलते' भक्तिके स्रोत मिलते हैं वैसे ही उस स्रोतसे नहर काटकर राष्ट्रके धर्म-क्षेत्रकी बागबानी करनेवाले शिवाजी जैसे श्रवण-दक्ष किसान भी देखनेको मिलते हैं। पचीस-पचीस मीलकी दूरीसे कीर्तन सुननेके लिए बराबर दौड़ते जाना

उनका नियम था। और जो कुछ सुनना वह आलस-वालस झाड़कर जी लगाकर सुनना, और जैसा सुनना उसके अनुसार आचरण करनेका बराबर प्रयत्न करना, इसीको श्रवण कहना चाहिए। शिवाजी महाराज-ने सतत श्रवण किया। कोई सत्पुरुष मिल गये तो उनसे सुननेका मौका उन्होंने सहसा हाथसे नहीं जाने दिया। तभी सब उद्योगोंमें लगानेके बाद भी बच रहे, इतनी स्फूर्तिका खजाना उनके हृदयमें जमा हो सका। भक्ति-मार्गमें जिसे श्रवण-भक्ति और कीर्तन-भक्ति कहते हैं उसीको उपनिषद्में स्वाध्याय और प्रवचन नाम दिया है। नाम भिन्न होनेपर भी अर्थ एक ही है। स्वाध्यायके मानी हैं सीखना और प्रवचनके मानी सिखाना। इस सीखने और सिखानेपर उपनिषदोंका उतना ही जोर है जितना 'श्रवण और कीर्तनपर' संतोंका। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।"—सच बोल, धर्मपर चल और स्वाध्यायसे मत चूक, इन तीन सूत्रोंमें ऋषिकी सारी सिखावन आ गई। स्वाध्याय और प्रवचन अर्थात् सीखने-सिखानेका महत्त्व ऋषियोंकी दृष्टिमें इतना ज्यादा था कि मनुष्यके लिए नित्य आचरण करने योग्य धर्मके तत्त्व बतलाते हुए उन्होंने प्रत्येक तत्त्वके साथ स्वाध्याय-प्रवचनका पुनः-पुनः उल्लेख किया है। 'सत्य और स्वाध्याय-प्रवचन', 'तप और स्वाध्याय-प्रवचन,' इंद्रिय-दमन और 'स्वाध्याय-प्रवचन', 'मानसिक शांति और स्वाध्याय-प्रवचन', इस प्रकार प्रत्येक कर्त्तव्यको अलग-अलग कहकर हर बार ऋषिने स्वाध्याय-प्रवचनका हेतु और विषय तो बतलाया ही, उसका महत्त्व भी बता दिया है।

हमारा स्वराज्य-आंदोलन अत्यंत व्यापक और गंभीर आंदोलन है। वह एक ओर तीस करोड़ लोगोंसे—मानव-प्रजाके एक पंचमांशसे—संबंध रखनेवाला होने के कारण विशाल है, और दूसरी ओर आत्माको स्पर्श करनेवाला होनेके कारण गंभीर है।

तीस करोड़ आदमियोंसे ही इस आंदोलनका संबंध है, यह कहना भी संकुचित है। व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि सारे

मानव-जगत्की भवितव्यता इस आन्दोलन से संबंधित है। पैरका नन्हा-सा कांटा निकालना भी सिर्फ पांवका सवाल नहीं होता। सारे शरीरका हित-संबंध उससे रहता है। फिर बिगड़े हुए कलेजेको सुधारनेका सवाल सारे शरीरको सुधारनेका सवाल कैसे नहीं है? अवश्य यह सारे शरीर-का सवाल है। और कोई आसान सवाल नहीं है, जीने-मरनेका सवाल है—'यक्ष-प्रश्न' है। जवाब दो, नहीं तो जान दो, इस तरहका सवाल है। कालकी दृष्टिसे अत्यंत प्राचीन, लोक-संख्याके हिसाबसे जगतके पांचवें हिस्सेके बराबर, विस्तारकी दृष्टिसे रूसको छोड़कर पूरे यूरोपके बराबर, संस्कृतिमें उदार, उच्च, अद्भुत, प्राकृतिक संपत्तिमें जगतके लिए ईर्ष्याकी वस्तु, हिंदू और बौद्ध इन दो विश्वव्यापक धर्मोंको जन्म देनेवाली और इस्लामका विस्तार-क्षेत्र बनी हुई, वाङ्मय-वैभवमें अद्वितीय यह भारत-भूमि ब्रिटिश साम्राज्यके मुकुटका हीरा ही नहीं बल्कि साम्राज्य की निगली हुई हीरेकी कनी है—इसके जीवन-मरणपर दुनियाका भाग्य अवलंबित है। इसलिए आजके हमारे स्वराज्य-आंदोलनका संबंध सिर्फ ३० करोड़ भारतीय जनतासे ही न होकर सारे जगत-से है। और दूसरी ओर यह आंदोलन आत्माको स्पर्श करनेवाला है यह कहनेसे उसकी सच्ची गंभीरताकी कल्पना नहीं होती। स्वराज्यका यह आंदोलन आत्म-शुद्धि करनेवाला है। और आत्मशुद्धिका वेग साक्षात् परमात्मासे भेंट किये बगैर थमनेवाला नहीं। इसलिए इस आंदोलनका घनफल परमात्मासे गुणित मनुष्यकी दुनियाकी क्षेत्रके गुणनफलके बरा-बर होगा।

आंदोलनके इतने विशाल और गंभीर होनेकी वजहसे उसकी सिद्धिके लिए दो बातोंकी फिक्र रखना जरूरी है। एक तो उसे किसी खूंटेसे कसकर बांध देना चाहिए, नहीं तो वह हाथसे निकल भागेगा और दूसरे उसके तत्त्वोंका श्रवणकीर्तन जारी रखना चाहिए।

इनमें आंदोलनका खूंटा अब निश्चित हो गया है। चरखा हमारे सारे आंदोलनका खूंटा है। इसके चारों ओर आंदोलनका चक्र फिराते

रहना चाहिए। सुविधा और आवश्यकतानुसार कछुआ अपने अंग कभी अपने मजबूत कवचके अंदर खींच लेता है और कभी बाहर फैला देता है। वैसे ही चरखेका मजबूत खूंटा कायम करके उसके आश्रयमें हम आंदोलनके दूसरे अवयवोंको कभी बाहर पसारते, कभी भीतर बटोरते चलेंगे। आज हमने अपने आंदोलनके अवयव भीतर खींच लिये हैं। मौका पड़नेपर फिर बाहर पसारेंगे। पर कभी इस चरखेके खूंटेको छोड़ना नहीं होगा। ब्रह्म 'सर्वगत सदासम' है, इसीलिए कोई यह नहीं कह सकता कि वह कब चकमा देकर निकल भागेगा। इसलिए उस ब्रह्मको किसी मूर्तिमें कैद किये बिना भक्तका काम नहीं चलता। वैसे ही आंदोलन विश्वव्यापी हुआ कि कुछ भी हाथ नहीं लगता। इसी-लिए उस आंदोलनकी चरखेमें प्राण-प्रतिष्ठा है और कुछ हो या न हो, इस मूर्तिकी पूजामें कभी चूक नहीं होनी चाहिए।

और इतने ही महत्त्वकी दूसरी बात है आंदोलनके तत्त्वोंके सबके कानोंपर बराबर पड़ते रहनेकी व्यवस्था। वास्तवमें ये दोनों बातें अलग-अलग नहीं हैं। एक ही बातके दो अंग हैं। कीर्तन करना हो तो सामने मूर्तिका होना जरूरी है। देवताकी मूर्तिके बिना कीर्तन नहीं हो सकता। गंगाका पानी समुद्रकी ओर जाता है तो तीरपरके वृक्षोंका पोषण करता हुआ जाता है। पर जाता है समुद्रकी ओर ही। वैसे ही कीर्तनकी धारा बहती है भगवान्के संमुख ही। सुननेवाले तीरपरके वृक्षोंके समान हैं। स्वराज्यके आंदोलनकी स्थापना चरखेकी मूर्तिमें करनी और उस मूर्तिके सामने अखंड कीर्तनकी जय-जयकार जारी रखना है। यह भजन-कार्य हरएक शहरमें, हरएक गांवमें, हरएक घरमें, शुरू होना चाहिए। कीर्तन-की गुंजारसे दुनियाको गुंजा देना चाहिए। यह हम कर पायें तो यह पक्की बात है कि एक क्षणमें राष्ट्रका कायापलट हो जाय।

: ११ :

रोजकी प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥

हे प्रभो, मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा। अंधकारमेंसे प्रकाशमें ले जा। मृत्युमेंसे अमृतमें ले जा।

इस मंत्रमें हम कहां हैं, अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है, और हमें कहां जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्यमें हैं, अंधकारमें हैं, मृत्युमें हैं। यह हमारा जीव-स्वरूप है। हमें सत्यकी ओर जाना है, प्रकाशकी ओर जाना है, अमृतत्वको प्राप्त कर लेना है। यह हमारा शिवस्वरूप है।

दो बिंदु निश्चित हुए कि सुरेखा निश्चित हो जाती है। जीव और शिव ये दो बिंदु निश्चित हुए कि परमार्थ-मार्ग तैयार हो जाता है। मुक्तके लिए परमार्थमार्ग नहीं है, कारण उसका जीवन-स्वरूप जाता रहा है। शिव-स्वरूपका एक ही बिंदु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया। जड़के लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है। कारण, उसे शिव-स्वरूपका भान नहीं है। जीव-स्वरूपका एक ही बिंदु नजरके सामने है, इसलिए मार्ग आरंभ ही नहीं होता। मार्ग बीचवाले लोगोंके लिए है। बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु। उनके लिए मार्ग है। और उन्हींके लिए इस मंत्रवाली प्रार्थना है।

'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' ईश्वरसे यह प्रार्थना करनेके मानी

हैं, 'मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका बराबर प्रयप्न करूंगा', इस तरहकी एक प्रतिज्ञासी करना। प्रयत्नवादकी प्रतिज्ञाके बिना प्रार्थनाका कोई अर्थ ही नहीं रहता। यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूं, अथवा विरुद्ध दिशामें जाता हूं, और जबानसे 'मुझे असत्य-मेंसे सत्यमें ले जा' यह प्रार्थना किया करता हूं, तो इससे क्या मिलने-का ? नागपुरसे कलकत्तेकी ओर जानेवाली गाड़ीमें बैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बंबई ले जा'की कितनी ही प्रार्थना करें, तो उसका क्या फायदा होना है ? असत्यसे सत्यकी ओर ले चलनेकी प्रार्थना करनी हो तो अस-त्यसे सत्यकी ओर जानेका प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करनेमें यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना रुख असत्यसे सत्यकी ओर करूंगा और अपनी शक्तिभर सत्यकी ओर जानेका भरभूर प्रयत्न करूंगा।

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्यों ? प्रयत्न करना है इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए। मैं प्रयत्न करनेवाला हूं। पर फल मेरी मुट्ठीमें थोड़े ही है। फल तो ईश्वरकी इच्छापर अवलंबित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूंगा ? मेरी शक्ति कितनी अल्प है ? ईश्वरकी सहायताके बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूं ? मैं सत्यकी ओर अपने कदम बढ़ाता रहूं तो भी ईश्वरकी कृपाके बिना मैं मंजिलपर नहीं पहुंच सकता। मैं रास्ता काटनेका प्रयत्न तो करता हूं, पर अंतमें मैं रास्ता काटूंगा कि बीचमें मेरे पैर ही कट जानेवाले हैं, यह कौन कह सकता है ? इसलिए अपने ही बल-बूते मैं मंजिलपर पहुंच जाऊंगा, यह घमंड फिजूल है। कामका अधिकार मेरा है; पर फल ईश्वरके हाथमें है। इस-लिए प्रयत्नके साथ-साथ ईश्वरकी प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थनाके संयोगसे हमें बल मिलता है। यों कहो न कि अपने पासका संपूर्ण बल काममें लाकर और बलकी ईश्वरसे मांग करना यही प्रार्थनाका मतलब है।

प्रार्थनामें दैववाद और प्रयत्नवादका समन्वय है। दैववादमें पुरु-

पार्थको अवकाश नहीं है, इससे वह बावला है। प्रयत्नवादमें निरहंकार वृत्ति नहीं है इससे वह घमंडी है। फलतः दोनों ग्रहण नहीं किये जा सकते। किंतु दोनोंको छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण, दैववादमें जो नम्रता है, वह जरूरी है। प्रयत्नवादमें जो पराक्रम है वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इनका मेल साधती है। 'मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साह-समन्वित:' गीतामें सात्त्विक कर्ताका यह जो लक्षण कहा गया है उसमें प्रार्थनाका रहस्य है। प्रार्थना मानी अहंकार-रहित प्रयत्न। सारांश, 'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' इस प्रार्थनाका संपूर्ण अर्थ होगा कि 'मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका अहंकार छोड़कर उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूंगा।' यह अर्थ ध्यानमें रखकर हमें रोज प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिए कि—

हे प्रभो, तू मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा। अंधकारमेंसे प्रकाशमें ले जा। मृत्युमेंसे अमृतमें ले जा।

: १२ :

तुलसीकृत रामायण

तुलसीदासजीकी रामायणका सारे हिंदुस्तानके साहित्यिक इतिहास-में एक विशेष स्थान है। हिंदी राष्ट्रभाषा है, और यह उसका सर्वोत्तम ग्रंथ है। अतः राष्ट्रीय दृष्टिसे भी उसका स्थान अद्वितीय है ही। साथ-साथ वह हिंदुस्तानके सात-आठ करोड़ लोगोंके लिए वेद-तुल्य प्रमाण मान्य है, नित्य-परिचित और धर्मजागृतिका एकमात्र आधार है; इस प्रकार धार्मिक दृष्टिसे भी वह बेजोड़ कही जा सकती है। और राम-भक्तिका प्रचार करनेमें 'शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्' इस न्यायसे वह अपने गुरु वाल्मीकि-रामायणको भी पराजयका आनंद देनेवाली है, इसलिए भक्ति-मार्गीय दृष्टिसे भी यह ग्रंथ अपना सानी नहीं रखता। तीनों दृष्टियां एकत्र करके विचार करनेपर अन्वयालंकारका उदाहरण हो जाता है कि राम-रावणका युद्ध जिस तरह राम-रावणके युद्ध-जैसा था उसी तरह तुलसी-कृत-रामायण तुलसीकृत-रामायण-जैसी ही है।

एक तो रामायणका अर्थ ही है मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रका चरित्र, तिसपर तुलसीदासने उसे विशेष मर्यादासे लिखा है। इसीलिए यह ग्रंथ सुकुमार बालकोंके हाथमें देनेलायक निर्दोष तथा पवित्र हुआ है। इसमें सब रसोंका वर्णन नैतिक मर्यादाका ध्यान रखकर किया गया है। स्वयं भक्तिपर भी नीतिकी मर्यादा लगा दी है। इसीलिए सूर-दासकी जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नहीं मिलेगी। तुलसीकी भक्ति संय-मित है। इस संयमित भक्ति और उद्दाम भक्तिका अन्तर मूल राम-भक्ति और कृष्ण-भक्तिका अन्तर है। साथ ही, तुलसीदासजीका अपना भी कुछ है ही।

तुलसीकृत रामायणका वाल्मीकि-रामायणकी अपेक्षा अध्यात्म-रामायणसे अधिक संबंध है। अधिकांश वर्णनोंपर, खासकर भक्तिके उद्‌गारोंपर, भागवतकी छाप पड़ी हुई है, गीताकी छाप तो है ही। महाराष्ट्रके भागवतधर्मीय संतोंके ग्रन्थोंसे जिनका परिचय है उन्हें तुलसीकृत-रामायण कोई नई चीज नहीं मालूम होगी। वही नीति, वही निर्मल भक्ति, वही संयम। कृष्ण-सखा सुदामाको जिस तरह अपने गांवमें वापस आनेपर यह मालूम हुआ कि कहीं मैं फिरसे द्वारिका-पुरीमें लौटकर तो नहीं आ गया उसी तरह तुलसीदासजीकी रामायण पढ़ते समय महाराष्ट्रीय संत-समाजके वचनोंसे परिचित पाठकोंको 'हम कहीं अपनी पूर्व-परिचित संत-वाणी तो नहीं पढ़ रहे हैं', ऐसी शंका हो सकती है; उसमें भी एकनाथजी महाराजकी याद विशेष रूपसे आती है। एकनाथके भागवत और तुलसीदासजीकी रामायण इन दोनोंमें विशेष विचार-साम्य है। एकनाथने भी रामायण लिखी है, पर उनकी आत्मा भागवतमें उतरी है। एकनाथके भागवतने ही रानाडेको पागल बना दिया। एकनाथ कृष्णभक्त थे तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथने कृष्णभक्तिकी मस्तीको पचा लिया, यह उनकी विशेषता है। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ ये सभी कृष्णभक्त हैं और ऐसा होते हुए भी अत्यन्त मर्यादाशील। इस कारण इस विषयमें उन्हें तुलसीदासजीसे दो नम्बर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदासकी मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकांडमें है। उसी कांडमें उन्होंने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्याकांडमें भरतकी भूमिका अद्‌भुत चित्रित हुई है। भरत तुलसीदासजीकी ध्यानमूर्ति थे। इस ध्यानमूर्तिको चुननेमें उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनों ही रामके अनन्य भक्त थे। लेकिन एकको रामकी संगतिका लाभ हुआ और दूसरे को वियोगका। पर वियोग ही भाग्यरूप हो उठा। इसलिए कि वियोगमें ही भरतने संगतिका अनुभव पाया। हमारे नसीबमें परमात्मा-

के वियोगमें रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मणके जैसा संगतिका भाग्य हमारा कहां ! इसीलिए वियोगको भाग्यरूपमें किस तरह बदल सकते हैं, इसे समझनेमें भरतका आदर्श ही हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक संगतिकी अपेक्षा मानसिक संगतिका महत्त्व अधिक है। शरीरसे समीप रहकर भी मनुष्य मनसे दूर रह सकता है। दिन-रात नदीका पानी ओढ़े सोया हुआ पत्थर गीलेपनसे बिलकुल अलिप्त रह सकता है। उलटे शारीरिक वियोगमें ही मानसिक संयोग हो सकता है। उसमें संयमकी परीक्षा है। भक्तिकी तीव्रता वियोगसे बढ़ती ही है। आनंदकी दृष्टिसे देखें तो साक्षात् स्वराज्यकी अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्तिके प्रयत्नका आनंद कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव करनेकी रसिकता हममें होनी चाहिए। भक्तोंमें यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नहीं मांगते, वे भक्तिमें ही खुश रहते हैं। भक्तिका अर्थ बाहरका वियोग स्वीकार कर अंदरसे एक हो जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नहीं, परमभाग्य है—मुक्तिसे भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरतका यह भाग्य था। लक्ष्मणका भाग्य भी बड़ा था। पर एक तो हमारी किस्मतमें वह नहीं और फिर कुछ भी कहिये वह है भी कुछ घटिया ही। इसका कारण अंगूर खट्टे हैं, सिर्फ यही नहीं है, किंतु उपवास मीठा है यह रस भी है। भरतके भाग्यमें उपवासकी मिठास है।

लोकमान्य तिलकने 'गीतारहस्य'में संन्यासीको लक्ष्यकर यह कटाक्ष किया है कि 'संन्यासीको भी मोक्षका लोभ तो होता ही है।' पर इस तानेको व्यर्थ कर देनेको युक्ति भी हमारे साधु-संतोंने ढूंढ़ निकाली है। उन्होंने लोभको ही संन्यास दे दिया। खुद तुलसीदासजी भक्तिकी नमक-रोटीसे खुश हैं, मुक्तिकी ज्योनारके प्रति उन्होंने अरुचि दिखाई है। ज्ञानेश्वरने तो "भोग-मोक्ष निवलोण। पायातली" (भोग और मोक्ष पैर तले पड़े हुए उतारा जैसे है), "मोक्षाची सोडी-बांधी करी" (मोक्षकी पोटलीको बांधतो छोड़तो है, अर्थात् मोक्ष जिसके हाथकी

चीज है), "चहूं पुरुषार्था शिर्दीं। भक्ति जैसी" (चारों पुरुषार्थोंसे श्रेष्ठ भक्ति जैसी) आदि वचनोंमें मुक्तिको भक्तिकी टहलुई बनाया है। और तुकारामने तो "नको ब्रह्मज्ञान आत्मस्थिति भाव" (मुझे न ब्रह्मज्ञान चाहिए और न आत्म-साक्षात्कार) कहकर मुक्तिसे इस्तीफा ही दे दिया है। "मुक्तीवर भक्ति" (मुक्तिसे भक्ति बढ़कर है) इस भाव को एकनाथने अपनी रचनाओंमें दस-पांच बार प्रकट किया है। इधर गुजरातमें नरसिंह मेहताने भी "हरिना जन तो मुक्ति न मागे" (हरिका जन मुक्ति नहीं मांगता) ही गाया है। इस प्रकार अंततः सभी भागवत-धर्मी वैष्णवोंकी परंपरा मुक्तिके लोभसे सोलहों आने मुक्त है। इस परंपराका उद्गम भक्तिशिरोमणि प्रह्लादसे हुआ है "नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः"—इन दीन जनोंको छोड़कर मुझे अकेले मुक्त होनेकी इच्छा नहीं है,यह खरा जवाब उन्होंने नृसिंह भगवान्‌को दिया। इस कलियुगमें श्रौतस्मार्त्त-संन्यास-मार्गकी स्थापना करनेवाले शंकराचार्यने भी "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः" गीता के इस श्लोकका भाष्य करते हुए "सङ्गं त्यक्त्वा" का अर्थ अपने पल्ले से डालकर "मोक्षेऽपि फले सङ्गं त्यक्त्वा"—"मोक्षकी भी आसक्तिका त्याग कर", ये शब्द किया है।

तुलसीदासजीके भरत इस भक्ति-भाग्यकी मूर्ति हैं। उनका मांगना तो देखिए—

> धरम न अरथ न काम-रुचि
> गति न चहउं निरबान।
> जनम-जनम रति राम-पद
> यह बरदान न आन॥

यों तिलकजीके तानेको संतोंने एकदम निकम्मा कर दिया।

भरतमें वियोग-भक्तिका उत्कर्ष दिखाई देता है इसीसे तुलसीदासजी-के वह आदर्श हुए। भरतने सेवा-धर्मको खूब निबाहा। नैतिक मर्यादा-का संपूर्ण पालन किया, भगवान्‌का कभी विस्मरण नहीं होने दिया।

आज्ञा समझकर प्रजाका पालन किया। पर उसका श्रेय रामके चरणोंमें अर्पण कर स्वयं निर्लिप्त रहे। नगरमें रहकर वनवासका अनुभव किया। वैराग्य-युक्त चित्तसे यम-नियमादि विषम व्रतोंका पालन कर आत्माको देवसे दूर रखनेवाले देहके पर्देको झीना कर दिया। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे भरत न जन्मे होते तो मुझ-जैसे पतितको राम-सम्मुख कौन करता—

सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम-जम-नियम-सम-दम विषम-व्रत आचरत को।
दुख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषन सुजस-मिस अपहरत को!
कलिकाल तुलसी से सठहिं हठि राम-सनमुख करत को!!

रामायणमें रामसखा भरत, महाभारतमें शकुंतलाका पराक्रमी भरत और भागवतमें जीवनमुक्त जड़भरत ये तीन भरत प्राचीन भारतमें विख्यात हैं। हिंदुस्तानको 'भारत' वर्ष संज्ञा शकुंतलाके वीर भरतसे मिली, ऐसा इतिहासज्ञोंका मत है; एकनाथने ज्ञानी जड़-भरतसे यह मिली ऐसा माना है। संभव है, तुलसीदासजीको लगता हो कि यह राम-भक्त भरतसे मिली है। पर चाहे जो हो, आजके वियोगी भारतके लिए भरतकी वियोग-भक्तिका आदर्श सब प्रकारसे अनुकरणीय है। तुलसीदासजीने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभवसे उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है। तदनुसार आचरण करना हमारा काम है।

: १३ :

कौटुंबिक पाठशाला

विचारोंका प्रत्यक्ष जीवनसे नाता टूट जानेसे विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचारशून्य बन जाता है। मनुष्य घरमें जीता है और मदरसेमें विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचारका मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओरसे घरमें मदरसेका प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओरसे मदरसेमें घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्रको चाहिए कि शालीन कुटुंब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्रको चाहिए कि कौटुंबिक पाठशाला स्थापित करे। इस लेखमें शालीन कुटुंबके विषयमें हमें नहीं विचारना है, कौटुंबिक पाठशालाके संबंधमें ही थोड़ा दिग्दर्शन कराना है। छात्रालय अथवा शिक्षकोंके घरको शिक्षाकी बुनियाद मानकर उसपर शिक्षणकी इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। ऐसी कौटुंबिक शालाके जीवन-क्रमके संबंधमें—पाठ्यक्रमको अलग रखकर—कुछ सूचनाएं इस लेखमें करनी हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) ईश्वर-निष्ठा संसारमें सार वस्तु है। इसलिए नित्यके कार्य-क्रममें दोनों वेला सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थनाका स्वरूप संत-वचनोंकी सहायतासे ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासनामें एक भाग नित्यके किसी निश्चित पाठको देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह नीति हो। एक प्रार्थना रातको सोनेके पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठनेपर।

(२) आहार-शुद्धिका चित्त-शुद्धिसे निकट संबंध है, इसलिए आहार सात्त्विक रखना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले हुए पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थोंका त्याग करना चाहिए। दूध और दूधसे बने

पदार्थोंका मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(३) ब्राह्मणसे या दूसरे किसी रसोइएसे रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोईकी शिक्षा शिक्षाका एक अंग है। सार्वजनिक काम करने-वालोंके लिए रसोईका ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी सबको वह आनी चाहिए। स्वावलंबनका वह एक अंग है।

(४) कौटुंबिक पाठशालाको अपने पायखानेका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए। अस्पृश्यतानिवारणका अर्थ किसीसे छूतछात न मानना ही नहीं, किसी भी समाजोपयोगी कामसे नफरत न करना भी है। पायखाना साफ करना अंत्यजका काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छताकी सच्ची तालीम भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखनेके ढंगका अभ्यास है।

(५) अस्पृश्यों सहित सबको मदरसेमें स्थान मिलना चाहिए यह यह तो है ही, पर 'कौटुंबिक' पाठशालामें पंक्ति-भेद रखना भी संभव नहीं। आहार-शुद्धिका नियम रहना काफी है।

(६) स्नानादि प्रातःकर्म सवेरे ही कर डालनेका नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य भेदसे अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठंडे पानीसे करना चाहिए।

(७) प्रातःकर्मोंकी तरह सोनेके पहलेके 'सायंकर्म' भी जरूर होने चाहिएं। सोनेके पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्मका गाढ़ निद्रा और ब्रह्मचर्यसे संबंध है। खुली हवामें अलग-अलग सोनेका नियम होना चाहिए।

(८) किताबी शिक्षाके बजाय उद्योगपर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योगमें देने ही चाहिएं। इसके बिना अध्य-यन तेजस्वी नहीं होनेका। 'कर्मातिशेषेण' अर्थात् काम करके बचे हुए समयमें वेदाध्ययन करना श्रुतिका विधान है।

(९) शरीरको तीन घंटे उद्योगमें लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वतः करनेका नियम रखनेके बाद दोनों समय व्यायाम करनेकी जरूरत

नहीं है। फिर भी एक वेला अपनी-अपनी जरूरतके मुताबिक खुली हवामें खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(१०) कातनेको राष्ट्रीय धर्मकी प्रार्थनाकी भांति नित्यकर्ममें गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योगके समयके अलावा कम-से-कम आधा घंटा वक्त देना चाहिए। इस आधे घंटेमें तकलीका उपयोग करनेसे भी काम चल जायगा। कातनेका नित्यकर्म यात्रामें या कहीं भी छोड़े बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकलीपर कातना तो आना ही चाहिएं।

(११) कपड़ेमें खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी जहां-तक संभव हो स्वदेशी ही लेनी चाहिएं।

(१२) सेवाके सिवा दूसरे किसी भी कामके लिए रातको जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमीकी सेवा इसमें अपवाद है। पर मौजके लिए या ज्ञान-प्राप्तिके लिए भी रातका जागरण निषिद्ध है। नींदके लिए ढाई पहर रखने चाहिएं।

(१३) रातमें भोजन नहीं रखना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा तीनों दृष्टियोंसे इस नियमकी आवश्यकता है।

(१४) प्रचलित विषयोंमें संपूर्ण जागृति रखकर वातावरणको निश्चल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर कौटुंबिक शालाके जीवनक्रमके संबंधमें ये चौदह सूचनाएं की गई हैं। इनमें किताबी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षाके पाठ्यक्रमके बारेमें ब्यौरा नहीं दिया गया है। उसपर लिखना हो तो अलग लिखना पड़ेगा। राष्ट्रीय शिक्षणके विषयमें जिन्हें 'रस' है वे इन सूचनाओंपर विचार करें और शंका, सूचना वा आक्षेप, जो सूझे सूचित करें।

: १४ :

जीवन और शिक्षण

आजकी विचित्र शिक्षण-पद्धतिके कारण जीवनके दो टुकड़े हो जाते हैं। आयुके पहले पंद्रह-बीस बरसोंमें आदमी जीनेके झंझटमें न पड़कर सिर्फ शिक्षाको प्राप्त करे और बादको शिक्षणको बस्तेमें लपेट रखकर मरने तक जिये।

यह रीति प्रकृतिकी योजनाके विरुद्ध है। हाथभर लंबाईका बालक साढ़े तीन हाथका कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरोंके ध्यानमें भी नहीं आता। शरीरकी वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि साव-काश, क्रम-क्रमसे, थोड़ी-थोड़ी होती है। इसलिए उसके होनेका भानतक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रातको सोये तब दो फुट ऊंचाई थी और सवेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गई। आजकी शिक्षण-पद्धतिका तो यह ढंग है कि अमुक वर्षके बिल-कुल आखिरी दिनतक मनुष्य जीवनके विषयमें पूर्ण-रूपसे गैरजिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं; यही नहीं, उसे गैरजिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्षका पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेनेको तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण गैरजिम्मेदारीसे संपूर्ण जिम्मे-दारीमें कूदना तो एक हनुमान-कूद ही हुई। ऐसी हनुमान-कूदकी कोशिशमें हाथ-पैर टूट जायं तो क्या अचरज।

भगवान्‌ने अर्जुनसे कुरुक्षेत्रमें भगवद्‌गीता कही। पहले भगवद्-गीताके 'क्लास' लेकर फिर अर्जुनको कुरुक्षेत्रमें नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवनकी तैयारीका ज्ञान कहते हैं उसे

जीवनसे बिलकुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञानसे मौतकी ही तैयारी होती है।

बीस बरसका उत्साही युवक अध्ययनमें मग्न है। तरह-तरहके ऊंचे विचारोंके महल बना रहा है। "मैं शिवाजी महाराजकी तरह मातृभूमिकी सेवा करूंगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूंगा। मैं न्यूटनकी तरह खोज करूंगा।" एक, दो, चार, जानें क्या-क्या कल्पना करता है; ऐसी कल्पना करनेका भाग्य भी थोड़ोंको ही मिलता है। पर जिनको मिलता है उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओंका आगे क्या नतीजा निकलता है ? जब नोन-तेल-लकड़ीके फेरमें पड़ा, जब पेटका प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवनकी जिम्मेदारी क्या चीज है; आजतक इसकी बिलकुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है ? फिर पेटके लिए वन-वन फिरनेवाले शिवाजी, करुण-गीत गानेवाले वाल्मीकि, और कभी नौकरीकी तो कभी औरतकी, कभी लड़कीके लिए वरकी और अंतमें श्मशानकी शोध करनेवाले न्यूटन—इस प्रकारकी भूमिकाएं लेकर अपनी कल्पनाओंका समाधान करते हैं। यह हनुमान-कूदका फल है।

मैट्रिकके एक विद्यार्थीसे पूछा—"क्योंजी, तुम आगे क्या करोगे ?"

"आगे क्या ? आगे कालेजमें 'जाऊंगा।'

"ठीक है। कालेजमें तो जाओगे। लेकिन उसके बाद ? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर उसका अभीसे विचार क्यों किया जाय ? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थीसे वही सवाल पूछा।

"अभीतक कोई विचार नहीं हुआ।

"विचार हुआ नहीं यानी ? लेकिन विचार किया था क्या ?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें ? कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा' ये वही शब्द हैं जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहलेकी आवाजमें बेफिक्री थी। आजकी आवाजमें थोड़ी चिंता-की झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष बाद उसी प्रश्नकर्त्ताने उसी विद्यार्थीसे—अथवा कहो अब 'गृहस्थ' से वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताक्रांत था। आवाजकी बेफिक्री बिलकुल गायब थी। 'ततः किं? ततः किं? ततः किम्?' यह शंकराचार्यका पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमागमें कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब था नहीं।

आजकी मौत कलपर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग उनपर नहीं आता जो 'मरण-के पहले ही' मर लेते हैं, जो अपना मरण आंखोंसे देखते हैं। जो मरणका 'अगाऊ' अनुभव लेते हैं। उनका मरण टलता है और जो मरणके अगाऊ अनुभवसे जी चुराते, खिंचते हैं उनकी छातीपर मरण आ पड़ता है। सामने खंभा है यह बात अंधेको उस खंभेका छातीमें प्रत्यक्ष धक्का लगनेके बाद मालूम होती है। आंखवालेको यह खंभा पहले ही दिखाई देता है। अतः उसका धक्का उसकी छातीको नहीं लगता।

जिंदगीकी जिम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत ही कौन ऐसी बड़ी 'मौत' है? अनुभवके अभावसे यह सारा 'हौआ' है। जीवन और मरण दोनों आनंदकी वस्तु होनी चाहिएं। कारण, अपने परम-प्रिय पिताने—ईश्वर ने—वह हमें दिये हैं। ईश्वरने जीवन, दुःखमय नहीं रचा। पर हमें जीवन—जीना आना चाहिए। कौन पिता है जो अपने बच्चोंके लिए परेशानीकी जिंदगी चाहेगा? तिसपर ईश्वरके प्रेम और करुणाका कोई पार है? वह अपने लाड़ले बच्चोंके लिए सुखमय जीवनका निर्माण करेगा कि परेशानी और झंझटोंसे भरा जीवन रचेगा? कल्पनाकी क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिए न। हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है उसके उतनी ही सुलभतासे मिलनेका

इंतजाम ईश्वरकी ओरसे है। पानीसे हवा ज्यादा जरूरी है तो ईश्वरने पानीसे हवाको अधिक सुलभ किया है। जहां नाक है वहां हवा मौजूद है। पानीसे अन्नकी जरूरत कम होनेकी वजहसे पानी प्राप्त करनेकी बनिस्बत अन्न प्राप्त करनेमें अधिक परिश्रम करना पड़ता है। 'आत्मा' सबसे अधिक महत्त्वकी वस्तु होनेके कारण वह हरएकको हमेशाके लिए दे डाली गई है। ईश्वरकी ऐसी प्रेम-पूर्ण योजना है। इसका खयाल न करके हम निकम्मे जड़ जवाहरात जमा करने-जितने जड़ बन जायं तो तकलीफ हमें होगी ही। पर यह हमारी जड़ताका दोष है, ईश्वरका नहीं।

जिंदगीकी जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नहीं है, वह आनंदसे ओत-प्रोत है, बशर्ते कि ईश्वरकी रची हुई जीवनकी सरल योजनाको ध्यानमें रखते हुए अयुक्त वासनाओंको दबाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनंदसे भरी हुई वस्तु है वैसे ही शिक्षासे भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिंदगीकी जिम्मेदारीसे वंचित हुआ वह सारे शिक्षणका फल गंवा बैठा। बहुतोंकी धारणा है कि बचपनसे ही जिंदगीकी जिम्मेदारीका खयाल अगर बच्चोंमें पैदा हो जाय तो जीवन कुम्हला जायगा। पर जिंदगीकी जिम्मेदारीका भान होनेसे अगर जीवन कुम्हलाता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है। पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षण-शास्त्रियोंकी भी है और इसका मुख्य कारण है जीवनके विषयमें दुष्ट कल्पना। जीवन मानी कलह, यह मान लेना। ईसपनीतिके अरसिक माने हुए परंतु वास्तविक मर्मको समझनेवाले मुर्गेसे सीख लेकर ज्वारके दानोंकी अपेक्षा मोतियोंको मान देना छोड़ दिया तो जीवनके अंदरका कलह जाता रहेगा और जीवनमें सहकार दाखिल हो जायगा। बंदरके हाथमें मोतियोंकी माला (मरकट-भूषण अंग) यह कहावत जिन्होंने गढ़ी है उन्होंने मनुष्यका मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्यके पूर्वजोंके संबंधमें डार्विनका सिद्धांत ही सिद्ध किया है। 'हनुमानके हाथमें मोतियोंकी

माला'वाली कहावत जिन्होंने रची वे अपने मनुष्यत्वके प्रति वफा-दार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चोंको उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर वह अगर जीने लायक वस्तु हो तो लड़कोंको उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण नहीं मिलनेका। भगवद्‌गीता जैसे कुरुक्षेत्रमें कही गई वैसे शिक्षा जीवन-क्षेत्रमें देनी चाहिए—दी जा सकती है। 'दी जा सकती है', यह भाषा भी ठीक नहीं है। वहीं वह मिल सकती है।

अर्जुनके सामने प्रत्यक्ष कर्त्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देनेके लिए भगवद्‌गीता निर्मित हुई। इसीका नाम शिक्षा है। बच्चोंको खेतमें काम करने दो। वहां कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देनेकेलिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञानकी या दूसरी जिस चीजकी जरूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों-को रसोई बनाने दो। उसमें जहां जरूरत हो रसायन-शास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहारमें काम करनेवाले आदमीको भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चोंको भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चोंके आस-पास जरूरतके अनुसार मार्ग-दर्शन करनेवाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीनेवाले' हों, जैसे व्यवहारमें आदमी जीवन जीते हैं। अंतर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालोंका जीवन विचारमय होगा, उसमेंके विचार मौके-पर बच्चेको समझाकर बतानेकी योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नामके किसी स्वतंत्र धंधेकी जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नामके मनुष्य-कोटिसे बाहरके किसी प्राणीकी। और 'क्या करते हो' पूछनेपर 'पढ़ता हूं' या 'पढ़ाता हूं' ऐसे जरूरत नहीं है। 'खेती करता हूं' अथवा 'बुनता हूं' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिये व्यावहारिक कहिये। पर जीवनके भीतरसे उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी

रामलक्ष्मण और गुरु विश्वामित्रका लेना चाहिये। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षाके लिए उन्होंने दशरथसे लड़कोंकी याचना की। उसी कामके लिए दशरथने लड़कोंको भेजा। लड़कोंमें भी यह जिम्मेदारीकी भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षणके 'काम'के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मणने क्या किया तो कहना होगा कि 'यज्ञ रक्षा की' 'शिक्षण प्राप्त किया' नहीं कहा जायगा। पर शिक्षण उन्हें मिला, जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्त्तव्य कर्मका आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्त्तव्य करता है उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लड़कोंको भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरोंको वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कोंमें आज उतनी शक्ति नहीं आई है,इसलिए उनके आस-पास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वे बहुत ठोकरें न खाने पायें, और धीरे-धीरे वे स्वावलंबी बनें, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है। और 'मा फलेषु कदाचन' यह मर्यादा इस फलके लिए भी लागू है। खास शिक्षणके लिए कोई कर्म करना यह भी सकाम हुआ—और उसमें भी 'इदमद्य मया लब्धम्',—आज मैंने यह पाया, 'इदं प्राप्स्ये'—कल वह पाऊंगा, इत्यादि वासनाएं आती ही हैं। इसलिए इस 'शिक्षण-मोह'से छूटना चाहिए। इस मोहसे जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। मां बीमार है, उसकी सेवा करनेमें मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षाके लोभसे मुझे माताकी सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्त्तव्य है, इस भावनासे मुझे माताकी सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करनेसे मेरी दूसरी चीज—जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूं वह—जाती है तो इस शिक्षणके नष्ट होनेके डरसे मुझे माताकी सेवा नहीं टालनी चाहिए।

प्राथमिक महत्त्वके जीवनोपयोगी परिश्रमको शिक्षणमें स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षणशास्त्रियोंका इसपर यह कहना है कि ये परिश्रम

शिक्षणकी दृष्टिसे ही दाखिल किये जायं। पेट भरनेकी दृष्टिसे नहीं। आज 'पेट भरनेका' जो विकृत अर्थ प्रचलित है उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हद्तक वह ठीक है। पर मनुष्यको 'पेट' देनेमें ईश्वरका हेतु है। ईमानदारीसे 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाजके बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट ही हो जायं। इसीसे मनुने 'योऽर्थशुचिः स हि शुचिः'—जो आर्थिक दृष्टिसे पवित्र है वही पवित्र है, यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। 'सर्वेषामविरोधेन' कैसे जियें, इस शिक्षणमें सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोध-वृत्तिसे शरीर-यात्रा करना मनुष्यका प्रथम कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य करनेसे ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्राके लिए उपयोगी परि-श्रम करनेको ही शास्त्रकारोंने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदर-भरण नोहे; जाणिजे यज्ञकर्म'—यह उदर-भरण नहीं है, इसे यज्ञकर्म जान। वामन पंडितका यह वचन प्रसिद्ध है। अतः मैं शरीर-यात्राके लिए परि-श्रम करता हूं, यह भावना उचित है। शरीर-यात्रासे मतलब अपने साढ़े तीन हाथके शरीरकी यात्रा न समझकर समाज-शरीरकी यात्रा, यह उदार अर्थ मनमें बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा मानी समाजकी सेवा और इसीलिए ईश्वरकी पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवामें देह खपाना मेरा कर्त्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेक में होनी चाहिए; वह छोटे बच्चोंमें भी होनी चाहिए। इसके लिए उनकी शक्ति भर उन्हें जीवनमें भाग लेनेका मौका देना चाहिए, और जीवनको मुख्य केंद्र बनाकर उसके आस-पास आव-श्यकतानुसार सारे शिक्षणकी रचना करनी चाहिए।

इससे जीवनके दो खंड न होंगे। जीवनकी जिम्मेदारी अचानक आ पड़नेसे उत्पन्न होनेवाली अड़चन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षणका मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म-की ओर प्रवृत्ति होगी।

: १५ :

केवल शिक्षण

एक देश-सेवाभिलाषीसे किसीने पूछा—"कहिए, अपनी समझमें आप क्या काम अच्छा कर सकते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "मेरा खयाल है, मैं केवल शिक्षणका काम कर सकता हूं और उसीका शौक है।"

"यह तो ठीक है। अक्सर आदमीको जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होता ही है। पर यह कहिए कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नहीं ?"

"जी नहीं। दूसरा कोई काम नहीं करना आयेगा। सिर्फ सिखा सकूंगा। और विश्वास है कि यह काम तो अच्छा कर सकूंगा।"

"हां, हां, अच्छा सिखानेमें क्या शक है; पर अच्छा क्या सिखा सकते हैं ? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे ?"

"नहीं, वह नहीं सिखा सकता।"

"तब, सिलाई ? रंगाई ? बढ़ईगिरी ?"

"न, यह सब-कुछ नहीं।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरह घरेलू काम सिखा सकेंगे ?"

"नहीं, कामके नामसे तो मैंने कुछ किया ही नहीं, मैं केवल शिक्षणका......"

"भाई, जो पूछा जाता है उसीमें 'नहीं', 'नहीं' कहते हो और कहे जाते हो 'केवल' शिक्षणका काम कर सकता हूं। इसके मानी क्या हैं ? बागबानी सिखा सकियेगा ?"

देश-सेवाभिलाषीने जरा चिढ़ाकर कहा, "यह क्या पूछ रहे हैं ? मैंने शुरूमें ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आता। मैं साहित्य पढ़ा सकता हूं।"

प्रश्नकर्त्ताने जरा मजाकसे कहा, "ठीक कहा। अबकी आपकी बात कुछ तो समझमें आई ! आप 'रामचरितमानस' जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हैं ?"

अब तो देशसेवाभिलाषी महाशयका पारा गरम हो उठा और मुंहसे कुछ ऊटपटांग निकलनेको ही था कि प्रश्नकर्त्ता बीचमें ही बोल उठा—"शांति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे ?"

अब तो हद हो गई। आगमें जैसे मिट्टीका तेल डाल दिया हो। यह संवाद खूब जोरसे भभकता, लेकिन प्रश्नकर्त्ताने तुरंत उसे पानी डालकर बुझा दिया—"मैं आपकी बात समझा। आप लिखना-पढ़ना आदि सिखा सकेंगे और इसका भी जीवनमें थोड़ा-सा उपयोग है, बिलकुल न हो ऐसा नहीं है। खैर, आप बुनाई सीखनेको तैयार हैं ?

"अब कोई नई चीज सीखनेका हौसला नहीं है और तिसपर बुनाईका काम तो मुझे आनेका ही नहीं, क्योंकि आजतक हाथको ऐसी कोई आदत ही नहीं।"

"माना, इस कारण सीखनेमें कुछ ज्यादा वक्त लगेगा, लेकिन इसमें न आनेकी क्या बात है ?"

"मैं तो समझता हूं, नहीं ही आयेगा। पर मान लीजिए बड़ी मेहनतसे आया भी तो मुझे इसमें बड़ा झंझट मालूम होता है; इसलिए मुझसे यह नहीं होगा यही समझिए।"

"ठीक, जैसे लिखना सिखानेको तैयार हैं वैसे खुद लिखनेका काम कर सकते हैं ?"

"हां, जरूर कर सकता हूं। लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे लिखते रहनेका काम भी है झंझटी; फिर भी उसके करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।" यह बातचीत यहीं समाप्त हो गई। नतीजा इसका क्या हुआ यह

जाननेकी हमें जरूरत नहीं।

शिक्षकोंकी मनोवृत्ति समझनेके लिए यह बातचीत काफी है। शिक्षक यानी—

किसी तरहकी भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलतासे शून्य;

कोई नई कामकी चीज सीखनेमें स्वभावतः असमर्थ हो गया है।

क्रियाशीलतासे सदाके लिए उकताया हुआ;

'सिर्फ शिक्षण' का घमंड रखनेवाला पुस्तकोंमें गड़ा हुआ, आलसी जीव;

'सिर्फ शिक्षण' का मतलब है जीवनसे तोड़कर बिलगाया हुआ मुर्दार शिक्षण और शिक्षकके मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य।

'मृत-जीवी'को ही कोई-कोई बुद्धि-जीवी कहते हैं। पर यह है वाणीका व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है? कोई गौतम बुद्ध, कोई सुकरात, शंकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर बुद्धि-जीवनकी ज्योति जगाकर दिखाते हैं। 'गीता'में बुद्धिग्राह्य जीवनका अर्थ अतींद्रिय जीवन बतलाया है। जो इंद्रियोंका गुलाम है, जो देहासक्तिका मारा हुआ है वह बुद्धि-जीवी नहीं है। बुद्धिका पति आत्मा है। उसे छोड़कर जो बुद्धि देहके द्वारकी दासी हो गई वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धिका जीवन ही मरण है। और उसे जीनेवाला मृत-जीवी। सिर्फ शिक्षणपर जीनेवाले जीव विशेष अर्थमें मृतजीवी हैं। इन सिर्फ शिक्षणपर जीनेवालोंको मनुने 'मृतकाध्यापक' उर्फ 'वेतन-भोगी शिक्षक' नाम देकर श्राद्धके काममें इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्धमें तो मृत पूर्वजोंकी स्मृतिको जिंदा करना रहता है और जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवनको मृत कर दिखाया है उनका इस काममें क्या उपयोग?

शिक्षकोंको पहले 'आचार्य' कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचार्यवान्। स्वयं आदर्श जीवनका आचरण करते हुए राष्ट्रसे उसका आचरण करा लेनेवाला आचार्य है। ऐसे आचार्योंके पुरुषार्थसे ही राष्ट्रोंका निर्माण हुआ है। आज हिंदुस्तानकी नई तह बैठानी है। राष्ट्र-

निर्माणका काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकोंके बिना वह संभव नहीं है।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षणका प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और व्याप्ति हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्रका सुशिक्षित वर्ग निरग्नि और निष्क्रिय होता जा रहा है। इसका उपाय राष्ट्रीय शिक्षणकी आग सुलगाना ही है।

पर वह अग्नि होनी चाहिए। अग्निकी दो शक्तियां मानी गई हैं। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियां जहां हैं वहां अग्नि है। 'स्वाहा'के मानी हैं आत्माहुति देनेकी, आत्म-त्यागकी शक्ति और 'स्वधा'के मानी हैं आत्म-धारणकी शक्ति। ये दोनों शक्तियां राष्ट्र-शिक्षणमें जाग्रत होनी चाहिएं। इन शक्तियोंके होनेपर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायेगा। बाकी सब मृत, निर्जीव है, कोरा शिक्षण है।

ऊपर-ऊपरसे दिखाई देता है कि अबतक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकोंने बड़ा आत्म-त्याग किया है। पर यह उतना सही नहीं है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्यागके मानी आत्म-त्याग नहीं है। उसकी कसौटी भी है। जहां आत्म-त्यागकी शक्ति होगी वहां आत्मधारणकी शक्ति भी होती है। न हुई तो त्याग कोई काहेका करेगा? जो आत्मा अपनेको खड़ा ही नहीं रख सकता वह कूदेगा कैसे? मतलब, आत्म-त्यागकी शक्तिमें आत्मधारण पहलेसे शामिल ही है। यह आत्मधारणकी शक्ति—'स्वधा' राष्ट्रीय शिक्षकोंने अभीतक सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्म-त्याग करनेका जो आभास हुआ वह आभास-मात्र ही है।

पहले स्वधा होगी, उसके बाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षणको अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकोंको अब स्वधा-संपादनकी तैयारी करनी चाहिए।

शिक्षकोंको 'केवल शिक्षण'की भ्रामक कल्पना छोड़कर स्वतंत्र जीवनकी जिम्मेदारी—जैसी किसानोंपर होती है वैसी—अपने ऊपर लेनी चाहिए और विद्यार्थियोंको भी उसीमें दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारों ओर शिक्षणकी रचना करनी चाहिए, अथवा अपने-आप होने देनी

चाहिए। 'गुरोः कर्मातिशेषेण' इस वाक्य का अर्थ 'गुरुके काम पूरे करके वेदाभ्यास करना' यही ठीक है। नहीं तो गुरुकी व्यक्तिगत सेवा इतना ही अगर 'गुरोः कर्मका' अर्थ लें तो गुरुकी सेवा आखिर कितनी होगी? और उसके लिए कितने लड़कोंको कितना काम करनेको रहेगा। इसलिए 'गुरोः कर्म' करनेके मानी हैं गुरुके जीवनमें जिम्मेदारीसे हिस्सा लेना। वैसा दायित्वपूर्ण भाग लेकर उसमें जो शंका वगैरह पैदा हों उन्हें गुरुसे पूछे और गुरुको भी चाहिए कि अपने जीवनकी जिम्मेदारी निबाहते हुए और उसीका एक अंग समझकर उसका यथाशक्ति उत्तर देता जाय। यह शिक्षणका स्वरूप है। इसीमें थोड़ा स्वतंत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यासके लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वरकी उपासनाका ही हो पर वैसा करके भी सुबह-शाम थोड़ा समय उपासनाके लिए देना पड़ता है। यही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षण पर लागू करना चाहिए। मतलब, जीवनकी जिम्मेदारीके काम ही दिनके मुख्य भागमें करने चाहिएं और उन सभीको शिक्षणका ही काम समझना चाहिए। साथ ही, रोज एक-दो घंटे (Period) 'शिक्षणके निमित्त' भी देना चाहिए।

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवनमें उतारना राष्ट्रीय शिक्षणका कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य करते रहने से उसके जीवनमें अपने-आप उसके आस-पास शिक्षाकी किरणें फैलेंगी और उन किरणोंके प्रकाशसे आस-पासके वातावरणका काम अपने-आप हो जायगा। इस प्रकारका शिक्षक स्वतः सिद्ध शिक्षण-केंद्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्यको पवित्र जीवन बितानेकी फिक्र करनी चाहिए। शिक्षणकी खबरदारी रखनेके लिए वह जीवन ही समर्थ है; उसके लिए 'केवल शिक्षण'की हवस रखनेकी जरूरत नहीं।

: १६ :

भिक्षा

मनुष्यकी जीविकाके तीन प्रकार होते हैं—

(१) भिक्षा, (२) पेशा और (३) चोरी

भिक्षा अर्थात् समाजकी अधिक-से-अधिक सेवा करके समाजसे सिर्फ शरीर-धारण-भरको कम-से-कम लेना; और वह भी विवश होकर और उपकृत भावनासे।

पेशा, अर्थात् समाजकी विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला मांग लेना।

चोरी, अर्थात् समाजकी कम-से-कम सेवा करके या सेवा करनेका नाटक करके या बिलकुल सेवा किये बिना और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाजसे ज्यादा-से-ज्यादा भाग लेना।

प्रत्यक्ष चोर-लुटेरे, खूनी और इन्हीं-सरीखे वे 'इंतजामकार' पुलिस, सैनिक हाकिम वगैरह सरकारी साथी-सहायक; इंतजामके बाहरके वकील, वैद्य, शिक्षक, धर्मोपदेशक वगैरह उच्च उद्योगी और अव्यापारेषु-व्यापार करनेवाले—ये सब तीसरे वर्गमें आते हैं।

मातृभूमिपर मशक्कत करनेवाले किसान और जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी करनेवाले मजदूर, ये दूसरे वर्गमें जानेके अभिलाषी हैं, जानेवाले नहीं। कारण, उनकी उचित पारिश्रमिक पानेकी इच्छा होते हुए भी तीसरे वर्गकी करतूतके कारण आज उनमेंसे बहुतोंको उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता और वे जबरन पहले वर्गमें ढकेले जा रहे हैं। पर जो जबरन पहले वर्गमें पहुंचाये जाते हैं वे निसंदेह तीसरे वर्गमें दाखिल हो जाते हैं।

पहले वर्गमें दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोड़े, सच्ची लगनके साधु पुरुष हैं। बहुत ही थोड़े हैं, पर हैं; और उन्हींके बलपर दुनिया टिकी है। वे थोड़े हैं पर उनका बल अद्भुत है।

"भिक्षा-वृत्तिका लोप हो रहा है, उसका पुनरुद्धार होना चाहिए।" जब समर्थ यह कहते तो उनका उद्देश्य इसी पहले वर्गको बढ़ाना है।

इसीको गीतामें 'यज्ञ-शिष्ट' अमृत खाना कहा है। और गीताका आश्वासन है कि यह अमृत खानेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है।

आज हिंदुस्तानमें बावन लाख 'भीख मांगनेवाले' हैं। समर्थके समयमें भी बहुत 'भिक्षुक' थे, फिर भी भिक्षा-वृत्तिका जीर्णोद्धार करनेकी जरूरत समर्थको क्यों जान पड़ी ?

इसका जवाब भिक्षाकी कल्पनामें है। बावन लाखकी भिक्षाका जो अर्थ है वह तो चोरीका ही एक प्रकार है।

भिक्षाका मतलब है अधिक-से-अधिक परिश्रम और कम-से-कम लेना। इतना भी न लिया होता पर शरीर-निर्वाह नहीं होता इसलिए उतने भरके लिए लेना पड़ता है। पर हक मानकर नहीं। समाजका मुझपर यह उपकार है, इस भावनासे। भिक्षामें परावलंबन नहीं है, ईश्वरावलंबन है; समाजकी सद्भावनापर श्रद्धा है; यथालाभ संतोष है; कर्त्तव्य-परायणता है; फलनिरपेक्ष वृत्तिका प्रयत्न है।

लोक-सेवकके शरीर-रक्षणको एक सामाजिक कार्य समझना चाहिए। विशिष्ट सामाजिक कामके लिए यदि किसीको कोई निश्चित रकम दी जाय तो उस रकमका विनियोग उचित रीतिसे, हिसाब रखकर, इसी कार्यके लिए वह करता है। मैं लोक-सेवक हूं, इसलिए मेरा शरीर-धारण-कार्य भी सामाजिक कार्य है ऐसा समझकर उसके लिए मुझे, आवश्यकतानुसार, समाज देता है। उस रकमका उपयोग मुझे उसी काममें करना चाहिए, उचित रूपसे करना चाहिए, उसका हिसाब रखना चाहिए, और वह हिसाब लोगोंकी जांचके लिए खुला रहना चाहिए। अर्थात् सब तरहसे एक पंच जैसी संचालन-व्यवस्था करेगा, वैसे 'निर्मम'

भावनासे मुझे अपने शरीरकी संचालन-व्यवस्था करनी चाहिए। यह भिक्षावृत्ति है।

कुछ सेवकोंको कहते सुना जाता है—अपने पैसेको हम चाहे जैसे खर्च करें, सामाजिक पैसेका हिसाब ठीक रखेंगे; लोगोंको दिखायेंगे, उनसे आलोचना चाहेंगे, उन्हें होगा तो उत्तर देंगे, नहीं तो क्षमा मांगेंगे। पर हमारे अपने पैसेका हिसाब ठीक रखनेको हम बंधे नहीं हैं, और दिखानेकी तो बात ही नहीं। यदि सचाईसे समाज-सेवा करनेवाला कोई आदमी यह कहे तो उसकी सेवा 'पेशा' बन गई। पेशा ईमानदार सही, पर है 'पेशा'। भिक्षा-वृत्ति नहीं।

भिक्षा कहती है-—'तेरा' पैसा कैसा? जैसे खादीके कामके लिए खादीका ज्ञाता मानकर तुझे पैसा सौंपा गया उसी तरह तेरे शरीरके कामके लिए, तुझे उसका ज्ञाता समझकर, पैसा दिया गया। खादीके लिए दिया हुआ पैसा जब तेरा नहीं है, तब तेरे शरीरके लिए दिया हुआ पैसा तेरा कैसे हुआ? दोनों काम सामाजिक ही हैं।

एक खादी-प्रचारकसे पूछा गया, "तुम्हें कितनेकी जरूरत है?

"तीस रुपये महीनेकी।"

"तुम तो अकेले हो, फिर इतनेकी जरूरत क्यों है?"

"दो-तीन गरीब विद्यार्थियोंको मदद देता हूं।"

"हम यह मान लेते हैं कि गरीब विद्यार्थियोंको इस तरह मदद देना अनुचित नहीं है। पर मान लो कि खादीके कामके लिए तुम्हें पैसे दिये गये तो उसमेंसे राष्ट्रीय शिक्षणके काममें लगाओगे क्या?

"ऐसा तो नहीं किया जा सकता।"

"तब तुम्हारे शरीरका पोषण, जो एक सामाजिक काम है, उसके लिए तुम्हें दी गई रकममेंसे गरीब विद्यार्थियोंको मदद देनेमें, जो दूसरा सामाजिक काम है, खर्च करनेका क्या मतलब?"

यह भी भिक्षा-वृत्तिका महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। भिक्षा-वृत्तिवाले मनुष्यको दानका अधिकार नहीं है। दान हो या भोग—दोनोंका कर्त्ता 'मैं' ही

: १७ :

गांवोंका काम

असहयोग-आंदोलनके समयसे गांवोंकी ओर लोगोंका ध्यान खिंचा है। गांवोंका महत्त्व समझमें आने लगा है। कितने ही सेवक गांवोंमें काम भी करने लगे हैं, और कुछको उसमें कामयाबी भी हुई है। पर अधिकांशको सफलता नहीं मिली है।

इसके पहले सुशिक्षितोंकी दृष्टि गांवोंकी ओर गई ही न थी। पहले तो नजर परायोंकी ओर थी। इंग्लैंडकी जनताको अनुकूल करना चाहिए सरकारको परिस्थिति समझानी चाहिए, आदि। बादको निगाह अपनों-की ओर फिरी। पर शहरोंकी ओर, सुशिक्षितोंकी ओर। 'सुशिक्षितोंमें राष्ट्रीय भावना पैदा करनी चाहिए' की बुनियादपर सारा आंदोलन चलता था। असहयोगके जमानेमें गांवोंकी ओर नजर गई। आगे बढ़े तो रचनात्मक कार्यक्रमके आंदोलनमें गांवोंमें प्रवेश करनेकी, ग्रामवासी जनताकी सेवा करनेकी प्रत्यक्ष प्रेरणा हुई। और वर्षोंके लंबे अनुभवके बाद हमारे ध्यानमें आया कि 'तेरा साईं तेरे पास, तू क्यों भटके संसारमें ?' फिर भी कामकी केवल शुरूआत होनेके कारण बहुतसे स्थानोंमें गांवका काम निष्फल हुआ।

यह कोई नई बात नहीं है। शुरू-शुरूमें ऐसा होता ही है। इससे निराश होनेकी कोई वजह नहीं, और निराश होनेकी स्थिति है भी नहीं। कारण, कुछ स्थानोंमें गांवोंके प्रयोग सफल भी हुए हैं। इसके सिवा जो प्रयोग असफल प्रतीत होते हैं वे भी प्रतीत-भर होते हैं। पत्थर तोड़नेमें पहली कुछ चोटें बेकार गईं-सी जान पड़ती हैं। पर उनका

नतीजा तो होता ही है। इस मिसालमें फोड़ा जानेवाला पत्थर गांवकी जनता नहीं बल्कि हमारे सुशिक्षितोंका विमुख हृदय है।

अब कहीं हमारे मनमें गांवोंमें जानेकी बात उदित हुई है, लेकिन हम गांवोंमें अपने शहरी ठाट-बाटके साथ जाना चाहते हैं, इससे हमारा काम जमता नहीं। गांवोंमें ग्रामीण होकर जाना चाहिए। यही हमारी असफलताका मुख्य कारण है।

गांवमें गया हुआ सुशिक्षित मनुष्य आज भी ग्रामीण तो नहीं ही बन पाया पर आज वहां वह 'परोपकार'की हविससे जाता है। उसे गांववालोंसे खुद कुछ सीखना है यह वह भूल जाता है।

उसे लगता है 'ये बेचारे अज्ञानमें लोटते पड़े हैं।' अपना घोर अज्ञान उसे नहीं दिखाई देता, और खुद उसे क्या करना चाहिए इसे बिसराकर वह लोगोंसे काम लेनेके फेरमें पड़ जाता है। इसकी वजहसे वह ग्राम-जीवनसे बिलकुल अलग-सा हो जाता है।

(१) अपनी सुशिक्षितपनकी आदतें छोड़कर हमें गांव में जाना चाहिए।

(२) गांववालोंको शिक्षा देनेकी वृत्ति लेकर नहीं जाना चाहिए।

(३) खुद काममें लगें।

ये तीन महत्त्वपूर्ण बातें हमें ध्यानमें रखनी चाहिए।

कई बार ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी गांवमें जा बैठता है और किसी एक कामको, जिसे—गांवकी मददके बिना—वह कर सकता था, सारे गांवभरमें हलचल मचाकर भी नहीं कर पाता। अपने कामका उसे पूरा हिसाब—क्षण-क्षणका—रखना चाहिए। गांवके आदमियोंकी निगाहमें उद्योगी आदमीकी इज्जत होती है। जो सुशिक्षित आदमी गांवमें जाकर किसीको कुछ सिखानेका ख्याल छोड़-कर रात-दिन काममें मग्न रहेगा और अपने चरित्रकी चौकसी करता रहेगा वह अपने-आप गांवके लिए उपयोगी बन जायगा, और आकाशमें जैसे तारे चन्द्रमाके चारों ओर इकट्ठे रहते हैं वैसे ही लोग उसके

चारों ओर जमा हो जायंगे। हिंदुस्तानकी ग्रामवासी जनता कृतज्ञ है, गुण परखनेकी शक्ति उसमें भरपूर है।

ग्राम-संगठनका काम चरित्र-बलके अभावमें संभव नहीं है। और गांवकी जनताके चारित्र्यका बटखरा 'प्राथमिक' सद्गुणोंपर अवलंबित है, और यही असली बटखरा है। 'प्राथमिक' सद्गुणोंसे मतलब है नीतिके मूलभूत सद्गुण। उदाहरणार्थ, आलस्य न होना, निर्भयता, प्रेम, इत्यादि। दिखाऊ उपार्जित गुण वक्तृत्व, विद्वत्ता वगैरह गांवोंके लिए बहुत उपयोगी नहीं होते। गांवमें काम करनेवालेमें भक्तिकी लगन होनी चाहिए, भाव होना चाहिए। यह प्राथमिक सद्गुणों का राजा है।

पर अपने लोगोंकी पवित्र भावनामें अभी हम रमे ही नहीं। यह हमारी निष्फलताका बहुत ही बड़ा कारण है। गांवके लोगोंके वहम, अंध-विश्वास हममें न होने चाहिए। लेकिन उनमें जो कीमती भावनाएं हैं वे तो हममें होनी ही चाहिए। पर वे नहीं होतीं। भजनसे हम भागते हैं। ईश्वरके नामोच्चारणसे हमारे हृदयमें भावनाकी बाढ़ आनी चाहिए पर वह नहीं आती। ईश्वर, धर्म, संतोंके बारेमें पूरी कल्पना न रखनेवाले गंवारोंमें जो भक्ति-भाव होता है वह उनके संबंधमें वास्तविक और यथार्थ ज्ञान रखनेवालोंमें उनसे सौ-गुना ज्यादा होना चाहिए। पर हमें ईश्वर अथवा साधु-सन्तोंके संबंधमें बिलकुल ही ज्ञान नहीं होता। इतना ही नहीं, भान भी नहीं होता; अगर हुआ तो विपरीत ज्ञान भरपूर होता है। इस वजहसे जनताके हृदयसे हमारा हृदय मिल नहीं सकता। अस्पृश्यता-सरीखी जो विपरीत भावनाएं धर्मके नामसे जनतामें रूढ़ हो गई हैं उन्हें निकाल डालने का उसीका प्रयत्न सफल होगा या उसीको प्रयत्न करना चाहिए जिसके हृदयमें जनताके हृदयकी पवित्र भावनाएं हिलोरें मारती हैं। जनताकी योग्य भावनाएं जिसमें नहीं हैं वह जनताकी अयोग्य भावनाएं कैसे निकाल सकेगा?

लोगोंकी भली भावनाओंमें शामिल न हो सकना जैसे एक दोष

है, वैसे ही दूसरे लोगोंके शारीरिक परिचयकी व्यर्थ इच्छा रखना भी दोष है और हमारे कामके लिए घातक है। किसी तरह लोगोंसे खूब जान-पहचान बढ़ानेकी हविससे इधर-उधरके काममें व्यर्थ हाथ डालनेसे काम बिगड़ता है। अति परिचयकी आकांक्षासे हमारा लोगोंके प्रति आदर-भाव कम हो जाता है। लोगोंके सूक्ष्म-सूक्ष्म व्यवहारोंपर बेमतलब ध्यान देनेसे हम उनकी सेवा नहीं कर सकते। सेवकको परिचयके बजाय आदरकी ज्यादा जरूरत होती है। लोगोंसे परिचय कुछ कम हो और उनके लिए आदर अधिक, तो सेवकके लिए यह ज्यादा अच्छा है।

लेकिन 'लोगोंसे खूब जान-पहचान होनी चाहिए', यह बात अच्छे-अच्छे सेवा-वृत्तिवालोंके मुंहसे भी सुनी जाती है। पर इसकी जड़में अहंकार छिपा हुआ होता है। सेवकको सेवा-वृत्तिकी मर्यादा जाननी चाहिए। हमारे शरीरमें कोई ऐसा पारस पत्थर नहीं चिपका हुआ है कि किसीका किसी तरह भी हमसे संबंध जुड़ा नहीं कि वह सोना हुआ। सेवाके निमित्तसे लोगोंसे जितना परिचय होता हो जरूर होना चाहिए। ढूंढ़-ढूंढ़कर परिचयके मौके निकालनेकी सेवकके लिए जरूरत नहीं है। सच्चे सेवकके पास सेवा अपने-आप हाजिर रहती है, उसे प्रसंग ढूंढ़ते नहीं फिरना पड़ता। शरीरसे परिचय बढ़ाने और उसीके साथ मनसे जनताके बारेमें अनादर बढ़ाते जानेमें कोई भी फायदा नहीं है।

इसके सिवा हममें एक और दोष है—त्यागकी प्रतीति। हमसे थोड़ा-बहुत त्याग होता है। लेकिन त्यागकी प्रतीति त्यागको मार डालती है। त्यागकरके हम किसीपर कोई अहसान नहीं करते। इसके सिवा हमारा त्याग शहरकी निगाहसे 'त्याग' माना भी जाये तो गांव-गंवईके हिसाबसे उसकी कोई बड़ी वकत नहीं। गांवमें तो बहुत ही बड़े त्यागकी अपेक्षा है। स्वयं गांवके लोग—चाहे मजबूरीका ही क्यों न हो—त्यागसे ही रहते हैं। उस हिसाबसे हमारा त्याग किसी गिनतीमें

नहीं है। और फिर उसकी प्रतीति ! इससे सेवा ठीक तरह नहीं हो सकती।

इन दोषोंको निकाल देनेका प्रयत्न करनेपर फिर हमारा गांवका काम असफल न होगा।

: १८ :

अस्पृश्यता-निवारणका यज्ञ

अस्पृश्यता-निवारणकी बात उठनेपर कुछ लोग कहते हैं—"भई, ये बातें तो होने ही वाली हैं, समयका प्रवाह ही ऐसा है; इसके लिए इतना आग्रह रखनेकी क्या जरूरत ?" समयका प्रवाह अनुकूल है इसलिए कोशिशकी जरूरत नहीं और समय प्रतिकूल हो तो कोशिशसे कुछ होनेका नहीं। मतलब दोनों तरहसे 'कोशिशकी जरूरत नहीं है !' दुनियावी कामोंमें कोशिश और धर्मको भाग्य-भरोसे, खूब ! यह धर्मको धोखा देना नहीं है तो क्या है ? लेकिन धर्म कभी धोखा नहीं खा सकता। धर्मको धोखा देनेके प्रयत्नमें मनुष्य अपने-आपको ही धोखेमें डालता है। धर्मके मामलेमें 'कम-से-कम कितनेमें काम चल जायगा ?' यह कृपण-वृत्ति जैसी बुरी है, वैसी ही 'हो ही रहा है', होनेवाला है ही', यह भाग्य-वादिता भी बुरी है। 'होनेवाला है ही' इसके मानी क्या ? बिना किये होनेवाला है ? लड़केकी शादी बिना किये नहीं होती और अस्पृश्यता-निवारण बिना किये हो जायगा ? और फिर समयके प्रवाहके मानी क्या हैं ? समाजके सामुदायिक कर्त्तृत्वको ही तो 'समयका प्रवाह' कहते हैं। उसमेंसे मैंने अपना कर्तृत्व निकाल लिया तो उतने हिस्सेमें सामुदायिक कर्त्तृत्व कमजोर पड़ जायगा, और यदि सबने यही नीति अपना ली तो सारा कर्त्तृत्व ही उड़ जायगा ! लेकिन "समयका प्रवाह अस्पृश्यता-निवारणके अनुकूल है" इसका अर्थ अगर यह किया जाय कि "हरिजनोंमें जागृति आ गई है, वे हमसे अपने-आप करा लेंगे, फिर हम क्यों करें" तब तो ठीक ही है। वह भी होगा।

लेकिन उससे हमें आत्म-शुद्धिका पुण्य नहीं नसीब होने का। ज्ञानदेवने जैसा कहा है कि, दूध उफन जानेसे होम हुआ नहीं कहलाता। अग्निका आहुति लेना और अग्निको आहुति देना, दोनोंमें भेद है। पहली चीज-को आग लगाना कहते हैं और दूसरीको यज्ञ करना कहा जाता है। हम आत्म-शुद्धिके यज्ञ-कुंडमें अस्पृश्यताकी आहुति न देंगे तो सामाजिक विप्लवकी आग लगकर अस्पृश्यता जल जानेवाली है, यह निश्चित बात है। परमेश्वर हमें सद्बुद्धि दे!

: १९ :

आजादीकी लड़ाईकी विधायक तैयारी

आजकल हिंदुस्तानमें आजादीकी लड़ाईकी चर्चा चल रही है। कुछ लोग कहते हैं कि इस बारकी लड़ाई आखिरी होगी और द्रष्टाओंकी तो भविष्यवाणी है कि कई कारणोंसे स्वराज्य हमारी दृष्टिकी ही नहीं, हाथकी भी पहुंचमें आगया है।

अनेक कारणोंकी बदौलत स्वराज्य नजदीक चाहे आ गया हो, पर 'स्वराज्य'के विषयमें मुख्य प्रश्न यह है कि 'स्व'के कारण वह कितना नजदीक आया ? स्व-राज्य अनेक कारणोंसे नहीं मिलता, वह तो अकेले 'स्व-कारण'से ही मिलता है ।

उधर यूरोपमें एक महायुद्ध होरहा है। भेड़ियोंका एक दल कहता है कि विरोधी दलके भेड़ियों-द्वारा निगले गये मेमनोंको—संभव हो तो जिंदा नहीं तो कम-से-कम मरी हुई हालतमें—छुड़ानेके लिए हमने यह महायुद्ध स्वीकार किया है। अबतकके आठ महीनोंमें तो भेड़ियेका पेट फाड़कर पुराने मेमनोंको बाहर निकालनेके बजाय नित नये मेमने गलेके नीचे उतारनेका ही सिलसिला जारी है। इधर विरोधी दलके भेड़ियोंके पेटमें पहले हीसे पड़े हुए बड़े-बड़े मोटे-ताजे अधमरे मेमने इस आशासे मनके लड्डू खा रहे हैं कि भेड़ियोंकी इस झपटा-झपटीमें हम अवश्य ही उगल दिये जायंगे।

'ईसप-नीति'की ऐसी एक कहानी है। उसका मतलब निकालनेका भार ईसपको ही सौंपकर हम आगे बढ़ें। यूरोपकी लड़ाई हिंसक साधनों-से हिंसक उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए लड़ी जा रही है। हमारी लड़ाई अहिं-

सक साधनोंसे अहिंसक उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए होगी। इन दोनोंमें भारी अंतर होते हुए भी उस हिंसक लड़ाईसे हम कई बातें सीख सकते हैं। लड़ाईके साधन चाहे जैसे क्यों न हों, आजकलका युद्ध सामुदायिक तथा सर्वांगीण सहयोगका एक जबर्दस्त प्रयत्न होता है। यद्यपि इस प्रयत्नका फल विध्वंसक होता है, और उद्देश्य भी विध्वंसक होता है, तथापि वह प्रयत्न प्रायः सारा-का-सारा विधायक ही होता है। कहते हैं कि जर्मनीने सत्तर लाख फौज तैयार की है। आठ करोड़के राष्ट्रका इतनी बड़ी फौज तैयार करना, इतने बड़े पैमानेपर लड़ाईके हरबा-हथियार, और साधन-सामग्री जुटाना, चुने हुए लोगोंको फौजमें भरती करनेके बाद बाकी लोगों-द्वारा राष्ट्रीय कारबार चलाना, संपत्तिकी धारा अव्याहत गतिसे प्रवाहित रखनेके लिए औद्योगिक योजनाएं यथासंभव अखंड रूपसे जारी रखना, सब स्कूल-कालिज बंद कर देना, नित्यकी जीवन-सामग्रीकी व्यक्तिगत मिल्कियतके अधिकारपर सरकारी कब्जा जमा लेना, जिस प्रकार विश्व-रूप-दर्शनमें आंख, कान, नाक, हाथ, पैर, सिर, मुंह अनंत होते हुए भी हृदय एक ही दिखाया गया है, मानो उसी प्रकार सारे राष्ट्रका हृदय एक करना—यह सब इतना विशाल और इतना सर्वतो-मुख विधायक कार्यक्रम है कि उसके संहार-प्रवण होते हुए भी हम उससे बहुत कुछ सीख सकते हैं।

लोग पूछते हैं—"गांधीजी लड़ाईकी तैयारी करनेको कहते हैं, मगर इससे रचनात्मक कार्यक्रमका संबंध क्यों जोड़ देते हैं? हिंदू-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, खादी और ग्रामोद्योग, मद्य-निषेध, गांवकी सफाई तथा नई तालीम,—यह सारा रचनात्मक कार्यक्रम है। इसमें लड़ाईका तत्त्व कहां है?" यह सवाल कौन लोग पूछते हैं? वही, जो यह मानते हैं कि हमें लड़ाई अहिंसक साधनोंसे ही करनी चाहिए। उनकी समझमें यह क्यों नहीं आता कि हिंसक लड़ाईके लिए भी अधि-कांशमें विधायक कार्यक्रमकी ही जरूरत होती है। सिपाहियोंके लिए बिस्कुट बनानेसे लगाकर—नहीं, नहीं खेतोंमें आलू बोनेसे लगाकर—

पनडुब्बियों द्वारा दुश्मनोंके जहाज डुबाये जानेतक सब-का-सब लड़ाईका एक अखंड कार्यक्रम होता है और उसके अंतिम अंशके सिवा शेष सारा प्रायः रचनात्मक ही होता है। इस विधायक कार्यक्रमपर ही उस अंतिम विनाशक कार्यक्रमकी सफलता अवलंबित होती है। यह शुरूवाला अगर नदारद हो जाय तो वह पीछेवाला भी लापता हो जायगा। यह भेद जानकर ही दुश्मन सामनेवाले पक्षके विनाशक कार्यक्रमको बेकार कर देनेके उद्देश्यसे उसके इस विधायक कार्यक्रमकी टांग तोड़ देनेके फेरमें रहता है। जहां हिंसक लड़ाईका यह हाल है वहां अहिंसक लड़ाई तो विधायक कार्यक्रमके बिना हो ही कैसे सकती है? 'स्वराज्य'के मानी हैं 'सर्व-राज्य' अर्थात् हरेकका राज्य। इस प्रकारका स्वराज्य बिना सामुदायिक सहयोगके; बिना उत्पादक कार्यक्रमके, बिना सर्वोपयोगी राष्ट्रीय अनुशासनके कैसे प्राप्त किया जा सकता है? कांग्रेसके तीन लाख सदस्य हैं। अगर वे राष्ट्रके लिए रोज आधा घंटा भी कातें तो भी कितना बड़ा संगठन होगा? इसमें मुश्किल क्या है? वर्धा तहसीलको लीजिए। इस तहसीलमें कांग्रेसके छः हजार सदस्य हैं। उनको अगर २० टुकड़ियोंमें बांट दिया जाय तो हरेक टुकड़ीमें तीन सौ सदस्य होंगे। हरेक टुकड़ी सालभरमें तीन सौ सदस्योंको कातना सिखानेका इरादा करले तो कोई मुश्किल काम नहीं है। सबसे बड़ी बाधा है हमारी अश्रद्धा। '-क्या लोग सीखनेके लिए तैयार होंगे?" "क्या सीखनेपर भी कातते रहेंगे?" "कताईका हिसाब रखेंगे?" "उसे कांग्रेसके पास भेजेंगे?"—ऐसी अनेक शंकाएं हम किया करते हैं। इसके बदले हम काम शुरू कर दें तो एक-एक गांठ अनुभवके बाद खुलने लगेगी।

कम-से-कम वर्धा तहसीलमें इस कार्यक्रमको अमलमें लानेकी चेष्टा की जा सकती है। कांग्रेस-कमेटियों, चरखा-संघ, ग्रामसुधार-केंद्र, आश्रमों तथा अन्य संस्थाओं और गांवके अनुभवी व्यक्तियोंके सहयोगसे यह काम हो सकता है। कामका बाकायदा हिसाब लिखा जाना चाहिए। समय-समय पर कातनेकी प्रगतिकी जानकारी भी लोगोंको दी जानी

चाहिए। कातना सिखानेके मानी यह हैं कि उसके साथ-साथ दूसरी कई बातें भी सिखाई जा सकती हैं और सिखाई जानी चाहिए। कार्यकर्त्ता इस सूचनापर विचार करे। बहुत मुश्किल नहीं मालूम होगी। लाभ-दायक होगी। करके देखिए। [७ : ९ : ४०

: २० :

सर्व-धर्म-समभाव

दो प्रश्न हैं—

(१) सर्वधर्म-समभावका विकास करनेके लिए क्या गांधी-सेवा-संघकी ओरसे कुछ ऐसी पुस्तकोंके प्रकाशनकी आवश्यकता नहीं है जिनमें विभिम्न धर्मोंका तुलनात्मक विचार हो ?

(२) क्या आश्रम तथा अन्य संस्थाओंमें भिन्न-भिन्न धर्मोंके महापुरुषोंके उत्सव मनाकर उन अवसरों पर उन धर्मोंके विषयमें ज्ञान देना वांछनीय नहीं है ?

१—अगर समभावकी दृष्टिसे कोई ग्रंथ-लेखक पुस्तक तैयार करे और गांधी-सेवा-संघ उचित समझे तो ऐसी कोई पुस्तक प्रकाशित करना ठीक होगा। पर प्रकाशन-विभाग खोलना मुझे पसंद नहीं है। सच बात तो यह है कि संसारमें धर्मोंके बीच जो विषम भाव है वह उतना बुरा नहीं है। भारतवर्षमें भी काफी विरोध बताया जाता है, लेकिन वह तो अखबारी चीज है। वास्तवमें विरोध है ही नहीं। हमारी कई हजार वर्षोंकी संस्कृतिने हम लोगोंमें समभाव पैदा कर दिया है। देहातमें अब भी नजर आता है। आजकलकी नई प्रवृत्तिने विरोध जरूर पैदा कर दिया है, पर वह धार्मिक नहीं है। उसका स्वरूप आर्थिक है। धर्मका तो बहाना ले लिया जाता है। और अखबारोंमें प्रकाशन-द्वारा उसे महत्त्व मिल जाता है। अगर वही प्रकाशनका काम हम अपने हाथोंमें ले लें तो उन्हींके शस्त्रका उपयोग करेंगे। यह अच्छी नीति नहीं है। जिस शस्त्रमें प्रतिपक्षी निपुण है उसीका उपयोग करनेसे काम नहीं

चलेगा। लेकिन इससे भी भयानक एक चीज और है। वह है सर्वधर्म सम-अभाव। अभाव बढ़ रहा है, नास्तिकता बढ़ रही है। नास्तिकतासे मेरा संकेत तात्त्विक नास्तिकताकी ओर नहीं है। तात्त्विक नास्तिकतासे मैं डरता नहीं। पर लिखनेसे काम नहीं पार पड़ेगा। हम लिखें भी तो कितने लोग पढ़ेंगे? गंदा साहित्य पढ़नेवाले तो हजारों हैं। अपने जीवनमें हम जिन चीजोंको उतार सकेंगे उन्हींका प्रचार होगा। पहले यही हुआ करता था। छापेखानेको आये तो सौ वर्ष हुए। इस बीच किसी नये लेखककी लिखी कोई पुस्तक निकली है जिसने तुलसीकृत रामायण और तुकारामके अभंगोंकी तरह जनतामें प्रवेश किया हो? प्रकाशन प्रचारका एक साधन तो है, पर धार्मिक प्रचारमें उसकी कीमत कम-से-कम है। जिस चीजको हम अपने श्रद्धेय पुरुषोंके मुंहसे सुनते हैं उसका अधिक असर होता है। प्रकाशनसे विशेष लाभकी संभावना नहीं जान पड़ती।

२—जहां आश्रम है वहां सब धर्मोंके प्रवर्त्तकोंके विषयमें भी अवसर-पर चर्चा कर सकते है। पर मेरी वृत्ति तो निर्गुण रही है। रामनवमी या कृष्णाष्टमीपर मैंने प्रसङ्गवशात् भाषण किये हैं, लेकिन उन्हें प्रोत्सा-हन नहीं दिया। जहां ऐसे उत्सव हो सकते हैं उनके होते रहनेमें कोई हर्ज नहीं है। [५ : ३ ३६

: २१ :

स्वाध्यायकी आवश्यकता

देहातमें जानेवाले हमारे कार्यकर्त्ताओंमेंसे अधिकांश उत्साही नवयुवक हैं। वे काम शुरू करते हैं उमंग और श्रद्धासे, लेकिन उनका वह उत्साह अंततक नहीं टिकता। देहातमें काम करनेवाले एक भाईका खत मिला था। लिखा था—"मैं सफाईका काम करता तो हूं, लेकिन पहले उसका जो असर गांववालोंपर होता था वह अब नहीं होता। इतना ही नहीं; बल्कि वे तो मानने लगे हैं कि इसको कहींसे तनख्वाह मिलती है इसीलिए यह सफाईका काम करता है।" अंतमें उस भाईने पूछा है कि क्या अब इस कामको छोड़कर दूसरा काम हाथमें ले लिया जाय?

यों कार्यकर्त्ताओंको अपने काममें शंकाएं उत्पन्न होने लगती हैं और यह हाल सिर्फ कार्यकर्त्ताओंका नहीं, बड़े-बड़े विद्वानों और नेताओंकी भी यही हालत है। इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है। वह है स्वाध्यायका अभाव। यहांपर 'स्वाध्याय' शब्दका जिस अर्थमें मैं उपयोग करता हूं उसे बता देना आवश्यक है। स्वाध्यायका अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक किताब पढ़कर फेंक दी, फिर दूसरी ली। दूसरी लेनेके बाद पहली भूल भी गये। इसको मैं स्वाध्याय नहीं कहता। 'स्वाध्याय'के मानी हैं एक ऐसे विषयका अभ्यास जो सब विषयों और कार्योंका मूल है, जिसके ऊपर बाकीके सब विषयोंका आधार है लेकिन जो खुद किसी दूसरेपर आश्रित नहीं। उस विषयमें दिनभरमें थोड़े समयके लिए एकाग्र होनेकी आवश्यकता है। अपने-आपको

और कातने आदि अपने सब कामोंको उतने समयके लिए बिलकुल भूल जाना चाहिए। अपने स्वार्थके संसारमें जितनी बाधाएं और कठिनाइयां पैदा होती हैं वे सभी इस परमार्थी कार्यमें भी खड़ी हो सकती हैं और यह भी संसारका एक व्यवसाय बन जाता है। अगर कोई समझता हो कि यह परमार्थी काम होनेकी वजहसे स्वार्थी संसारकी झंझटोंसे मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है। इसलिए जैसे कुछ समयके लिए संसारसे अलग होनेकी आवश्यकता होती है वैसे ही इस कामसे भी अलग होनेकी आवश्यकता है; क्योंकि वास्तवमें तो वह काम केवल भावनाका नहीं है, उसमें बुद्धिकी भी आवश्यकता है। भावना तो देहातियोंमें भी होती है, लेकिन उनमें बुद्धि की न्यूनता है। उसे प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि और भावना एकदम अलग-अलग चीजें हों, सो नहीं है। इस विषयमें मैं एक उदाहरण दिया करता हूं।

सूर्यकी किरणोंमें प्रकाश है और उष्णता भी है। उष्णता और प्रकाशको तार्किक पृथक्करणसे अलग-अलग कर सकते हैं। फिर भी जहां प्रकाश होता है वहां उसके साथ उष्णता भी होती ही है। इसी तरह जहां सच्ची बुद्धि है वहां सच्ची भावना है; और जहां सच्ची भावना है वहां सच्ची बुद्धि है ही। उनका तार्किक पृथक्करण हम कर सकते हैं, लेकिन दरअसल वे एकरूप ही हैं। कोई सोचता हो कि हमें बुद्धिसे कोई मतलब नहीं है, सेवाकी इच्छा है और इसके लिए भावनाका होना काफी है, तो वह गलत सोचता है। इस बुद्धिकी प्राप्तिके लिए स्वाध्यायकी आवश्यकता है। विद्वानोंको भी ऐसे स्वाध्यायकी जरूरत है। फिर कार्यकर्त्ता तो नम्र है न ? उसको तो स्वाध्यायकी विशेष रूपसे जरूरत है। इस विषयमें बहुतसे कार्यकर्त्ता सोचते हैं कि बीच-बीचमें शहरमें जाकर पुस्तकालयमें जाना, मित्रोंसे मिलना आदि बातें ग्राम-सेवाके लिए उपयोगी हैं, इनसे उत्साह बढ़ता है और उस उत्साहको लेकर फिर देहातमें काम करनेमें अनुकूलता होती है। लेकिन वे नहीं

जानते कि ज्ञान और उत्साहका स्थान शहर नहीं है। शहर ज्ञानियोंका अड्डा नहीं है।

उपनिषद्‌में एक कहानी है—एक राजासे किसीने कहा कि एक विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्यमें है। उसको खोजनेके लिए राजाने नौकर भेजे। सारा नगर छान डालनेके बाद भी उनको वह विद्वान् नहीं मिला। तब राजाने कहा, 'अरे, ब्राह्मणोंको जहां खोजना चाहिए वहां जाकर ढूंढ़ो।' तब वे लोग जंगलमें गये और वहां उनको वह ब्राह्मण मिला। यह बात नहीं कि शहरमें कोई तपस्वी मिल ही नहीं सकता। संभव है, कभी-कभी शहरमें भी ऐसा मनुष्य मिल जाय, लेकिन वहांका वातावरण उसके अनुकूल नहीं। आत्माका पोषण-रक्षण आजकल शहरोंमें नहीं होता। देहातमें निसर्गके साथ जो प्रत्यक्ष संबंध रहता है वह उत्साहके लिए अत्यंत आवश्यक है। शहरमें निसर्गसे भेंट कहां? जंगलमें तो नदी, पहाड़, जमीन सब चीजें वहीं सामने दिखाई देती हैं, और जंगलके पास तो देहात ही होते हैं, शहर नहीं। सिर्फ उत्साह लेनेके लिए ग्राम-सेवकोंको शहरमें आना पड़े, इसके बजाय शहरवाले ही कुछ दिनोंके लिए देहातमें जाकर कार्यकर्त्ताओंसे मिलते रहें तो अधिक अच्छा हो। असलमें उत्साह तो दूसरी ही जगह है। वह जगह है अपनी आत्मा। उसके चिंतनके लिए कम-से-कम रोज एकाध घंटा अलग निकालना चाहिए। तस्वीर खींचनेवाला तस्वीरको देखनेके लिए दूर जाता है, और वहांसे उसको तस्वीरमें जो दोष दिखाई देते हैं उनको पास आकर सुधार लेता है। तस्वीर तो पास रहकर ही बनानी पड़ती है, लेकिन उसके दोष देखनेके लिए अलग हट जाना पड़ता है। इसी प्रकार सेवा करनेके लिए पास तो आना ही पड़ेगा। लेकिन कार्यको देखनेके लिए खुदको अलग कर लेनेकी जरूरत भी है।

यही स्वाध्यायका उपयोग है। अपनेको और अपने कार्यको बिलकुल भूल जाना और तटस्थ होकर देखना चाहिए। फिर उसीमेंसे उत्साह मिलता है, मार्ग-दर्शन होता है, बुद्धिकी शुद्धि होती है।

: २२ :

दरिद्रोंसे तन्मयता

दो प्रश्न हैं—

(१) हममेंसे जो लोग आजतक तो मध्यमवर्गका जीवन बिताते आये हैं परंतु अब दरिद्र-वर्गसे एकरूप होना चाहते हैं, वे किस क्रमसे अपने जीवनमें परिवर्तन करें, जिससे तीन-चार वर्षमें वे निश्चित रूपमें उन दरिद्रोंसे एकरूप हो जायं ?

(२) मध्यम अथवा उच्चवर्गके लोग दरिद्रोंसे अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते हैं ? क्या इस प्रकारका कोई नियम बनाना ठीक होगा कि संघके सदस्य कोई ऐसा उपाय करें, जिससे उनके खर्चमेंसे हर १५)मेंसे ४) रुपये दरिद्रोंके घर सीधे पहुंच जायं ?

पहले तो हमें यह समझना है कि हम मध्यमवर्ग और उच्चवर्गके माने जानेवाले 'प्राणी' हैं, अर्थात् हम प्राणवान बनना चाहते हैं। जिनकी सेवा करना चाहते हैं उनके-से बनना चाहते हैं। पानी कहींका भी क्यों न हो, समुद्रकी ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्रतक नहीं पहुंच सकता, लेकिन चाहे वह मेरा नहाया हुआ हो, या गंगाजीका, दोनोंकी गति समुद्रकी ओर है। दोनों निम्नगतिक—नम्र हैं। एक जगह थोड़ा पानी, उसकी ताकत कम होनेके कारण, भले ही बीचमें रुक जाय, और किसी छोटे वृक्षको जीवन प्रदान करनेमें उसका उपयोग हो—यह तो हुआ उसका भाग्य—परंतु उसकी गति तो समुद्र ही है। समुद्रतक पहुंचनेका भाग्य तो गंगाके समान महानदियोंको ही प्राप्त होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणियां और पहाड़ टीलेके

समान हैं। यहां जिसकी हमें सेवा करनी है वह महासमुद्र है। इस महासमुद्र तक सब न भी पहुंच सकें, तो भी कामना तो हम यही करते हैं कि वहांतक पहुंचें। अर्थात् जहांतक पहुंच पायें उतने ही से संतोष न मान लें। हमें जिसकी सेवा करनी है उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवन की दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्नगतिक—नम्र बनना चाहिए।

पर इसके कोई स्थूल नियम नहीं बनाये जा सकते। अगर बनाना शक्य हो तो भी वे मेरे पास नहीं हैं और न मैं चाहता ही हूं कि ऐसे नियम बनाने का कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पांच वर्षोंमें उच्च और मध्यम श्रेणीके लोगोंको गरीब बना देनेकी कोई विधि नहीं है! हमें गरीबोंकी सेवा करनी है, यह समझकर जाग्रत रहकर शक्ति भर काम करना चाहिए। कोई नियम नहीं है, इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थ की गुंजाइश है। पिछले सोलह वर्षोंसे मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मैं गरीबोंसे एकरूप हो जाऊं, लेकिन मैं नहीं समझता कि गरीबोंका जीवन व्यतीत करनेमें सफल हुआ हूं। पर इसका उपाय क्या है? मुझे इसका कोई दुःख भी नहीं है। मेरे लिए तो प्राप्तिके आनंदकी अपेक्षा प्रयत्न-का आनंद बढ़कर है।

शिवकी उपासना करनी हो तो शिव बनो, ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबोंकी सेवा करनेके लिए गरीब बनना चाहिए। पर इसमें विवेककी जरूरत है। इसके मानी यह नहीं कि हम उनके जीवन-की बुराइयोंको भी अपना लें। वे जैसे दरिद्रनारायण हैं वैसे मूर्ख-नारायण भी तो हैं। क्या हम भी उनकी सेवा के लिए मूर्ख बनें? शिव बनने-का मतलब यह नहीं है। जिनका धन गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गई। उनके—जैसा बनकर हमें अपनी बुद्धि नहीं खोनी चाहिए।

देहातमें किसान धूपमें काम करते हैं। लोग कहते है, "बेचारे किसानोंको दिनभर धूपमें काम करना पड़ता है।" अरे, धूपमें और

खुले आकाशके नीचे काम करना, यही तो उनका वैभव बचा रह गया है ! क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते हैं ? धूपमें तो विटामिन काफी है । अगर हो सके तो हम भी उन्हींकी भांति करना शुरू कर दें । पर वे जो रातमें मकानोंको संदूक बनाकर उनमें अपने-आपको बंद करके सोते हैं, उसकी नकल हमें नहीं करनी चाहिए । हम काफी कपड़े रखें । उनसे भी हम कहें कि रातमें आकाशके नीचे सोओ और नक्षत्रोंका वैभव लूटो । हम उनके प्रकाशका अनुकरण करें, उनके अंधकारका नहीं । उनके पास अगर पूरे कपड़े नहीं हैं तो हम उन्हें इतना समर्थ क्यों न बना दें कि वे भी अपने लिए काफी कपड़े बना लें ? उन्हें महीनों तरकारी नहीं मिलती, दूध नहीं मिलता । क्या हम भी साग-भाजी और दूध छोड़ दें ? यह विचार ठीक नहीं है । एक आदमी अगर डूब रहा है और अगर उसे देखकर हमें दुःख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे डूब जायें ? इसमें दया है, सहानुभूति भी है । लेकिन वह दया और सहानुभूति किस कामकी जिसमें तारक-बुद्धिका अभाव हो ? सच्ची कृपामें तारक-शक्ति होनी चाहिए । तुलसीदासजीने उसे 'कृपालु अलायक' कहा है ।

हमें अपने जीवनकी खराबियों को निकालकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए । उसी प्रकार उनकी बुराइयों को दूर कर उनका जीवन भी पूर्ण बनाने में उनकी सहायता करनी चाहिए। पूर्ण जीवन वह है जिसमें रस या उत्साह है । भोग या विलासिताको उसमें स्थान नहीं । हम दरिद्रों-जैसे बनें या पूर्ण जीवनकी ओर बढ़ें ? लोग कहते हैं, ऐसा करनेसे हमारा जीवन त्यागमय नहीं दिखाई देगा । पर हमें इस बातका विचार नहीं करना है कि वह कैसा दिखाई देगा । हम यह भी न सोचें कि इसका परिणाम क्या होगा । इस परिणाम-परायणताको छोड़ देना चाहिए । हमारी जीवन-पद्धति उनसे भिन्न है । हमें दूध मिलता है, उन्हें नहीं मिलता; इस बातका हमें दुःख हो तो वह उचित ही है । यह दुःख-बीज तो हमारी हृदय-भूमिमें रहना ही चाहिए । वह हमारी

उन्नति करेगा। मुझे तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दुःख होगा। अगर किसी चमत्कारसे कल ही हमें स्वराज्य मिल जाय तो उसमें कोई आनंद नहीं। हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्तिसे तारक-बुद्धिका प्रचार होकर सारी देहाती जनता एक इंच भी आगे बढ़ सके तो हम स्वराज्यके नजदीक पहुंचेंगे। जैसे नदियां समुद्रकी ओर बहती हैं उसी प्रकार हमारी वृत्ति और शक्ति गरीबोंकी ओर बहती रहे, इसीमें कल्याण है।

: २३ :

तरणोपाय

वैधानिक आंदोलन करना, जनताकी शिकायतें सरकारके सामने रखना और मीठे-मीठे ढंगसे उन शिकायतोंका इलाज करा लेना और इतना करके संतोष मान लेना—शुरू-शुरूमें यही कांग्रेसका कार्यक्रम था। लेकिन न तो शिकायतें दूर होती थीं और न संतोष ही मिलता था। पुश्त भरके अनुभवके बाद कांग्रेस इस नतीजेपर पहुंची कि स्वराज्यके बिना चारा नहीं। यह अनुभव-संदेश तरुणों को सुनाकर पितामह दादाभाई निवृत्त हो गये।

धुनके पक्के तरुण काममें जुट गये। गुप्त षड्यंत्र, सरकारी अहलकारोंका खून और सरकारको डराकर स्वराज्य प्राप्त करनेका अपनी दृष्टिसे स्वावलंबी प्रयोग उन्होंने शुरू कर दिया। आंदोलनके लिए पैसेकी जरूरत होती ही है। वह कहांसे लाया जाय? यह मार्ग परावलंबी था। इसके अलावा अराजक तरुणोंके लिए वह खुला भी नहीं था। युवकोंने डाके डालकर पैसे कमानेके स्वावलंबी मार्गका अवलंबन किया। शुरूमें इन डाकुओंकी—जिनके घरोंमें डकैती हुई उन लोगोंने तो नहीं, पर जो सुरक्षित थे उन लोगोंने—थोड़ी बहुत प्रशंसा भी की। इसलिए स्वार्थी डाकू भी उनके लिए इस अधिक सुसाध्य साधनका प्रयोग करने लगे। जो भजन जैसी उज्ज्वल संस्थापर भी कब्जा कर सके उनके लिए डकैती हस्तगत करना मुश्किल तो था ही नहीं। फलतः दोनों प्रकारकी डकैतियोंसे जनता पीड़ित हुई। उधर सरकारने भी दमन-नीति अख्तियार की। तरुणोंके लिए जो सहानुभूति थी उसका स्रोत सूखने लगा। इतनेमें समझदार अहिंसावादी आये। वे कहने लगे कि पुराना वैधानिक

आंदोलनका मार्ग जिस प्रकार निरर्थक था, उसी प्रकार यह गुप्त साजिशोंका रास्ता भी बेकार है। इधर-उधर दो-चार खून करनेसे क्या फायदा? हिंसा भी कारगर होनेके लिए संगठित होनी चाहिए। असंगठित, अव्यवस्थित, लुक-छिपकर की हुई हिंसा किसी कामकी नहीं, और संगठित हिंसा हमारे बसकी बात नहीं है। इसलिए हमें अहिंसासे ही प्रतिकार करना चाहिए। गांधीजी हमें रास्ता दिखाने में समर्थ हैं। उनके मार्ग-दर्शनसे लाभ उठाकर हमें जनताकी प्रतिकार-शक्ति संगठित करनी चाहिए। जनताकी शक्ति संगठित होनेपर उसकी बदौलत संपूर्ण नहीं तो थोड़ी-बहुत सत्ता हमारे हाथोंमें अवश्य आयेगी। यह सत्ता आनेपर आगेका विचार कर लेंगे।

अवश्य ही, यह अहिंसा नीति-रूपमें थी, जो हमारे युवकोंको भी गुप्त षड्यंत्रोंकी असफलताके और दक्षिण अफ्रीकामें गांधीजीकी सफलताके अनुभवके कारण कुछ-कुछ जंची। जो लोग अपनी परछाईं-तकसे डरते थे उनको छोड़कर साराका-सारा राष्ट्र एकत्र होकर अहिंसक प्रतिकारके इस नये आंदोलनमें शामिल हुआ। गांधीजीकी नैष्ठिक अहिंसाको जोड़ने-घटानेसे जितनी शक्ति प्रकट हो सकी उसी परिमाणमें उसका परिणाम भी निकला और संगठित हिंसाकी अव्यवहार्यता अन्वयव्यतिरेकसे सर्वमान्य हुई।

इतनेमें यूरोपमें महायुद्धकी आग भड़की। शौर्य, साधन-संपत्ति, संगठन, साहस आदि गुणोंके लिए प्रसिद्ध शक्तिशाली राष्ट्र पांच-पांच, दस-दस दिनोंमें अपनी स्वतंत्रता गंवा बैठे। बीस साल पहले वैभवके शिखरपर पहुंचा हुआ फ्रांस-जैसा राष्ट्र भी तीस लाखकी फौज खड़ी कर, इंग्लैंड जैसे राष्ट्रका सहयोग प्राप्त कर, और शूरताकी पराकाष्ठा कर, गुलामसे भी गुलाम हो गया। जिन हाथोंने पिछले महायुद्धमें फ्रांसको विजय प्राप्त करा दी, शरण-पत्र लिखनेके लिए भी वही हाथ काम आये।

हमारी आंखें खुल गईं। असंगठित हिंसा तो बेकार साबित हो ही

चुकी थी। लेकिन कार्य-प्रमिति कहती है कि अब यह स्पष्ट हो गया कि चाहे जितने बड़े पैमानेपर की गई संगठित हिंसा भी स्वतंत्रताकी रक्षाके लिए बेकार है।

असंगठित हिंसा और सुसंगठित हिंसा—नहीं, नहीं अतिसुसंगठित हिंसा भी—दोनों या तीनों बेकार सिद्ध हो चुकी हैं। तब क्या किया जाय?

गांधीजी कहते हैं—"अहिंसाके प्रति अपनी निष्ठा दृढ़ करो।"

हम कहते हैं—"हम अभी तैयार नहीं हैं।"

"तो तैयारी करो।"

"अवसर बड़ा विकट है। नाजुक वक्त आ गया है। हम दुर्बल मनुष्य हैं। इसलिए वैसी तैयारीकी आज तुरंत गुंजाइश नहीं है।"

"तो फिर घड़ीभरके लिए स्वस्थ (शांत) रहो। मिल्टन कहता है, जो स्वस्थ (शांत) रहकर प्रतीक्षा करते हैं वे भी सेवा करते हैं।

"हां, कहते तो और कई लोग भी ऐसा ही हैं; लेकिन हमपर जिम्मेदारी है। हमें कुछ-न-कुछ हाथ-पैर हिलाना ही चाहिए।"

पानीमें तैरनेवाला तर जाता है। पानीपर स्वस्थ (शांत) लेटनेवाला भी पानीकी सतहपर रहता है। केवल हाथ-पैर हिलानेवाला तहमें पहुंच जाता है। केवल "हम कुछ-न-कुछ कर जायंगे"से ही क्या होनेवाला है? [१ : ७ : ४०

: २४ :

व्यवहारमें जीवन-वेतन

हर बातमें मैं गणितके अनुसार चलता हूं। शिक्षा-समिति (हिंदुस्तानीतालीमी-संघ) के पाठ्यक्रममें कातने-धुननेकी जो योजना मैंने दी है उसे देखकर किशोरलालभाई-जैसे चौकन्ने सज्जनने भी कहा कि तुमने गति वगैरहका जो हिसाब रखा है उसपर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। गणितका इस प्रकार प्रयोग करनेवाला होनेपर भी मैं ऐसा मानता हूं कि कुछ चीजोंके 'मूले कुठाराघातः' करके उन्हें तोड़ डालना चाहिए। वहां 'धीरे-धीरे', 'क्रमशः' आदि शब्द-प्रयोग उपयुक्त नहीं होता। मैं अपने जीवनमें ऐसा ही करता हूं। १९१६ में मैंने घर छोड़ा। यों तो घरकी परिस्थिति कुछ ऐसी न थी कि मेरा वहां रहना असंभव हो जाय। मां तो मुझे ऐसी मिली थी कि जिसकी याद मुझे आज भी नित्य आती है। पिताजी अभी जीवित हैं। उनकी उद्योगशीलता, अभ्यासवृत्ति, साफ-सुथरापन, सज्जनता आदि गुण सभीको अनुकरणीय लगेंगे। लेकिन यह सब होते हुए भी मुझे ऐसा लगा कि मैं अब इस घरमें नहीं समा सकता। जब घर छोड़ा तब 'इंटरमीजिएट'में था। कितने ही मित्रोंने कहा—"दो ही साल और लगेंगे। बी०ए० करके डिग्री लेकर जाओ।" उन सबके लिए एक ही जवाब था कि "विचार करनेका मेरा यह ढंग नहीं है।" घर छोड़नेके पहले भिन्न-भिन्न विषयोंके सर्टिफिकेट लेकर चूल्हेके पास बैठ गया और तापते-तापते उन्हें जलाने लगा। मांने पूछा, "क्या कर रहा है?" मैंने कहा, "सर्टिफिकेट जला रहा हूं।" उसने पूछा, 'क्यों?' मैंने कहा, "उनकी मुझे क्या जरूरत?" मांने कहा, "अरे, जरूरत न हो तो भी पड़े रहें तो क्या

हर्ज है ? जलाता क्यों है ?" "पड़े रहें तो क्या हर्ज है ?" इन शब्दों-की तहमें यह भावना छिपी हुई है कि "आगे कभी उनका उपयोग करनेकी जरूरत पड़े तो ?" इस घटनाकी याद मुझे पारसाल आई। सरकारने मैट्रिक-पासको मतदानका अधिकार दिया है। मुझे वह अधि-कार मिल सकता है। लेकिन मेरे पास सर्टिफिकेट कहां है ? एकाध रुपया खर्चकर दरख्वास्त करूं तो शायद उसकी नकल मिल जाय; पर मैंने कहा कि "क्या मतलब उस सर्टिफिकेटसे ? पैंतीस करोड़ लोगोंमें-से तीन करोड़को मत-दानका अधिकार मिला है। बाकी बत्तीस करोड़-को नहीं मिला है। मैं उन्हींके साथ क्यों न रहूं ?"

मुझे मराठोंके इतिहासकी एक घटना याद आ रही है। गोहके कमंदकी मददसे मराठे सिंहगढ़ पर चढ़ गये। लड़ाईमें तानाजी मारा गया। उसके मारे जाते ही मराठोंकी सेना हिम्मत हारकर भागने लगी और जिस रस्सेके बल चढ़कर वह ऊपर आई थी उसीके सहारे नीचे उतरनेका इरादा करने लगी। तब तानाजीके छोटे भाई सूर्याजीने उस रस्सेको काट डाला और चिल्लाकर कहने लगा, "मराठो, भागते कहां हो ? वह रस्सा तो मैंने पहले ही काट डाला है।" यह सुनते ही मराठोंकी फौजने सोचा कि चाहे लड़ें या भागें, मरना तो निश्चित है। यह जानकर मराठा सेनाने फिर हिम्मत की और लड़ाईमें जीतकर सिंहगढ़ फतह किया। यह जो 'रस्सा काट देनेकी नीति' है उसका उपयोग कहीं-कहीं करना ही पड़ता है। मेरे विचार इस ढंगके होनेके कारण कुछ लोगोंको वे अव्यवहार्य जान पड़ते हैं। वे मुझसे कहते हैं, "तुम्हारे विचार तो अच्छे हैं। लेकिन तुम्हें आजसे सौ बरस बाद पैदा होना चाहिए था। आजका समाज तुम्हारे विचारोंपर अमल नहीं करेगा।" इसके विपरीत कुछ लोगोंको मेरे विचार पांच-सात सौ साल पिछड़े प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि साधु-सन्तोंका साहित्य पढ़-पढ़कर इसका दिमाग उसीसे भर गया है। वर्तमान समाजके लिए इन विचारोंका कोई उपयोग नहीं।

जब मैं पौनारमें गणपतरावके यहां रहता था तो उनके यहांकी एक स्त्री मक्खन बेचने वर्धा आई। शामतक उसे कोई गाहक न मिला, क्योंकि वर्धाके बुद्धिमान लोगोंने भाव सस्ता करनेका भी एक शस्त्र ढूंढ़ निकाला है। यथासंभव देर करके बाजार जाना चाहिए। उस वक्त चीजें सस्ती मिलती हैं। देहातवालोंको लौटनेकी जल्दी रहती है, इसलिए वे औने-पौने अपनी चीजें बेच देते हैं। बिलकुल शामको एक भला आदमी आया। उस बेचारीने भाव दोपहरकी अपेक्षा दो-तीन आने कम ही बतलाया। तो भी वह भला आदमी मोल-मुलाई ही करता रहा। आखिर उस स्त्रीने सोचा कि अब पांच मील इसे ढोकर वापस ले जानेसे अच्छा है 'जोही हाथ सोई साथ।' उसने आधे दाममें वह मक्खन बेच दिया।

आज खरीदार और विक्रेता इकट्ठे होते ही सोचने लगते हैं कि सामनेवाला मुझे फंसानेपर तुला है। अतः बेचनेवाला जो भी कीमत कहे खरीदार उससे कुछ कम ही में मांगेगा। माना जाता है कि कम-से-कम दाममें चीज ले आये वह बड़ा होशियार है। लेकिन अबतक हम यह नहीं समझ पाये हैं कि पैसे गंवाकर हृदय बचानेमें भी कुछ चतुराई है। जबतक कम-से-कम पैसे देनेमें चतुराई मानी जाती है तबतक गांधीजीकी बात समझमें नहीं आ सकती और न अहिंसाका प्रचार ही हो सकता है।

तरकीबें सोची जा रही हैं कि कलकत्तेमें जापानी बम बरसायें तो हम आत्म-रक्षा किस तरह करें, लेकिन इनसे क्या होनेवाला है? बम तो बरसनेवाले ही हैं। आज न सही दस साल बाद बरसेंगे। यदि एक ओर हम जापान का सस्ता माल खरीदकर उसे मदद करते रहेंगे और उसके बम न गिरें इसकी कोशिश करते रहेंगे, तो वे बम कैसे टलेंगे? बम या युद्ध टालनेका वास्तविक उपाय तो यही है कि हम अपनी आवश्यकताकी चीजें अपने आस-पास तैयार करायें और उनके उचित दाम दें।

एक बार एक सभामें मैंने पूछा कि "हिन्दुस्तानकी औसत आयु-मर्यादा इक्कीस साल और इंगलैंडकी बयालीस साल है। तो बताइए इंग्लैंडका मनुष्य हिंदुस्तानीकी अपेक्षा कितने गुना ज्यादा जीता है?" छोटे-छोटे बालकोंने ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोगोंने भी जवाब दिया कि "दुगुना जीता है।" मैंने उन सबको फेल कर दिया। मैंने कहा कि "इक्कीस दूने बयालीस होते हैं, यह सही है। लेकिन हरएक आदमीकी उम्रके लड़कपनके पहले चौदह साल छोड़ देने चाहिए, क्योंकि उनसे समजको कोई फायदा नहीं होता। ये चौदह साल यदि हम छोड़ दें तो हिंदुस्तानका आदमी सात साल और इंग्लैंडका अट्ठा-ईस साल जीता है। यानी हिंदुस्तानकी अपेक्षा इंग्लैंडका मनुष्य दुगुना नहीं चौगुना जीता है।"

यह नियम मजदूरीमें भी घटित होता है। समाजमें यदि सभी लोग उद्योगी और परस्परावलंबी होते तो चीजोंके भाव चाहे जो होनेसे या आठ आनेकी जगह दो आने मजदूरी होनेसे भी कोई फर्क न पड़ता। तेलीका तेल जुलाहा खरीदता है, उसका कपड़ा तेली खरीदता है, दोनों किसानसे अनाज खरीदते हैं, किसान दोनोंसे तेल या कपड़ा खरीदता है। उस दशामें हम अनाजका भाव रुपयेके चार सेर समझें या दस सेर समझें, क्या फर्क पड़ेगा? रोजाना मजदूरी दो आने कहें या आठ आने, क्या फर्क होगा? क्योंकि, जब सभी उद्योगी और परस्परावलंबी हैं तो एक चीजका जो भाव होगा उसी हिसाबसे दूसरी चीजोंके भाव भी लगाये जायेंगे। महंगे दाम लगायेंगे तो व्यवहारमें बड़े-बड़े सिक्के बरतने होंगे, और सस्ते दाम लगायेंगे तो सस्ते सिक्कोंकी जरूरत होगी। महंगे भावोंके लिए रुपये लेकर बाजारमें जाना होगा। सस्ते भाव होंगे तो कौड़ियोंसे लेन-देनका व्यवहार हो सकेगा। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मगर आज समाजमें एक ऐसा वर्ग है कि जो न तेल पेरता है, न कपड़ा बुनता है, न अनाज पैदा करता है और न दूसरा कोई उत्पादक श्रम करता है। हम अगर चीजोंके दाम बढ़ा दें तो एक सेर

घंटे के बदले आज इस वर्गकी ओरसे हमें चार पैसे मिलते होंगे तो कल दो या चार आने मिलने लगेंगे। भाव या मजदूरी बढ़ानेका यही लाभ या उपयोग है। लेकिन यह वर्ग हर हालतमें बहुत छोटा ही रहेगा। इसलिए अगर हम सबकी मजदूरी आठ आने कर दें तो वास्तवमें वह चौगुनी न पड़कर डेढ़ गुनी या दुगुनी ही पड़ेगी।

लेकिन आज आठ आने मजदूरीके सिद्धांतको कोई ग्रहण ही नहीं करता। उसे स्वीकार करनेका मतलब है कि हमें अपनी सारी जीवनोपयोगी चीजोंके दाम मजदूरीके हिसाबसे लगाने चाहिए। तब पता चलेगा कि ढाई-तीन सौ साल पहलेका उस बेवकूफ तुकारामका अर्थ-शास्त्र आज १९३८ या १९३९के आधुनिकतम अर्थ-शास्त्रसे मेल खाता है। हम एक ऐसी जमात बनाना चाहते हैं जो मजदूरीका उपर्युक्त सिद्धांत अमलमें लाये। हम अगर एक घड़ा खरीदने जायं तो कुम्हारिन उसके दाम दो पैसे बतलायेंगी। हमें चाहिए कि हम घड़ा बनानेमें लगा हुआ वक्त पूछकर उससे कहें कि "मा, मैं तुझे इस घड़ेके दो आने दूंगा। क्योंकि इसके लिए तुझे इतने घंटे खर्च करने पड़े हैं और उन घंटोंकी इतनी मजदूरीके हिसाबसे इतने दाम होते हैं।" आप दो आने देकर वह मटका खरीदेंगे तो मटकेवाली समझेगी कि यह कोई बेवकूफ आदमी जान पड़ता है। दूसरी बार अगर आप एक झाड़ू लेने जायेंगे तो वह तुरंत उसके दाम छः आने बतलायेगी। तब आप उससे सारा हिसाब पूछकर समझायेंगे कि झाड़ूके दाम छः आने नहीं बल्कि दो या तीन आने हैं। तब वह स्त्री समझ जायेगी कि यह आदमी बेवकूफ नहीं है, इसे अक्ल है और यह किसी-न-किसी हिसाबके अनुसार चलता है।

ठगा जाना एक बात है और विचारपूर्वक मौजूदा बाजार-भावको अपेक्षा अधिक, लेकिन वस्तुतः उचित, कीमत देना बिलकुल दूसरी बात है। यह उचित कीमत ठहरानेके लिए हमें विभिन्न धंधोंका अध्ययन कर या उन धंधोंमें पड़े हुए लोगोंसे प्रेमका संबंध कायम करके

अलग-अलग चीजोंका एक समय-पत्रक बनाना होगा। उतने समयकी उचित मजदूरी तय करनी होगी और उसमें कच्चे मालकी कीमत जोड़कर जो दाम आये उतनी उस चीजकी कीमत समझनी चाहिए। यदि हम ऐसी कीमत नहीं देते तो अहिंसाका पालन नहीं करते।

अब, यह मजदूरी सब लोग आज नहीं देंगे। यदि मुमकिन हो तो हम पूरी मजदूरीका माल बेचनेवाली एक एजेंसी खोल सकते हैं। अगर वह सारा माल बिकवा दे तो कोई सवाल ही नहीं रह जाता; लेकिन अगर यह मुमकिन न हो तो मजदूरोंको आजकी तरह उसी पुराने भावमें अपना माल बेचना पड़ेगा। ऐसी हालतमें उनके सामने दो रास्ते हैं। एक तो यह कि वे कम दामोंमें अपना माल बेचनेसे इन्कार कर दें। लेकिन यह आज असंभव है। दूसरा रास्ता यह है कि मजदूरोंमें ऐसी भावना—हिसाबी वृत्ति निर्माण हो कि वे कहें कि "इस चीजकी उचित कीमत इतनी है। परंतु यह धनवान मनुष्य वह कीमत नहीं देता। तो जितनी कीमत उसने दी है उतनी जमा करके बाकीके पैसे मैंने उसे दानमें दिये, ऐसा मैं मान लूंगा।" धनाढ्य लोग गरीबोंको जो दें वही दान है या केवल धनाढ्य ही दान कर सकते हैं; यह धारणा क्यों हो? जो लोग सदा दान दे रहे हैं उन्हें इस बातका ज्ञान करा देना चाहिए कि वे दान दे रहे हैं।

पूरी मजदूरीके सिवाय समाजवाद या साम्यवादका दूसरा कोई इलाज नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि इतना रक्तपात इस देशमें होगा जितना कि रूस या दूसरे किसी देशमें न हुआ होगा। मैंने एक व्याख्यानमें—पौनारकी खादी-यात्रामें—साक्षात् महात्मा गांधीके सामने वेदका यह मंत्र "मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वधइत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" पढ़ा जो स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि जो धनिक अपने आस-पासके लोगोंकी पर्वाह न करते हुए धन इकट्ठा करता है वह धन प्राप्त करनेके बदले अपना वध प्राप्त करता है। 'वध' और 'मृत्यु'में यद्यपि सायणाचार्य

कोई भेद नहीं करते तथापि मेरी दृष्टिसे उन दोनोंका भेद अत्यंत स्पष्ट है। इस मंत्रको आप समाजवादका मंत्र कह सकते हैं। मजदूरों या श्रमजीवियोंके तमाम प्रश्नोंका पूरी मजदूरी ही एकमात्र अहिंसक हल है।

अब मैं आजकी खास बातपर आता हूं। ग्राम-सेवा-मंडल इस तहसीलमें खादी-उत्पत्तिका प्रयत्न ज्यादा जोरोंसे करनेवाला है। "जिस माल पर चरखा-संघको कुछ नफा मिल जाता है वह खासकर वैसा माल तैयार करना चाहता है। चरखा-संघका काम कई वर्षसे पहले चल रहा है। इसलिए यद्यपि वह आज चार आने मजदूरी देनेको तैयार है तो भी हम तो तीन आने देकर ही खादी बनवायेंगे।" आदि दलीलें देकर काम करना चाहता है। मैं कहता हूं कि चरखा-संघ सावलीमें तो मजदूरी 'कलदार'में देता है। लेकिन निजाम राज्यमें 'हाली' (निजाम राज्य का सिक्का)में देता है। इसका समर्थन या इसके पीछे जो विचार-धारा है उसे मैं समझ सकता हूं। 'कल्दार' तीन आनेमें सावलीमें जितना सुख मिल सकता है उतना ही सुख 'हाली' तीन आनेमें मुगलाई (निजाम राज्य)में मिल सकता है, क्योंकि वहां गरीबी ज्यादा है। वह विचार-धारा इस प्रकारकी है। उसी विचार-धाराके अनुसार सावलीकी अपेक्षा वर्धामें जीवन-निर्वाह अधिक महंगा है। इसलिए यहां सावलीसे ज्यादा मजदूरी देनी चाहिए। सावलीमें तीन आने देते हैं, इसलिए यहां भी तीन ही आने देते हैं, ऐसा कहनेसे काम न चलेगा।

अगर हम ऐसा करेंगे तो फिर वही महमूद और फिर्दौसीवाला किस्सा चरितार्थ होगा। महमूदने शाहनामेकी प्रत्येक पंक्तिके लिए एक दीनार देनेका वादा किया। लेकिन जब उसने यह देखा कि फिर्दौसीका लिखा हुआ शाहनामा तो बड़ा भारी ग्रंथ है तब इतने सोनेके दीनार देनेकी उसकी हिम्मत न हुई। इसलिए उसने सोनेके दीनारोंकी जगह चांदीके दीनार दिये।

मैं इधर दस या बारह वर्षसे खादीके विषयमें जिस तीव्रतासे विचार और आचरण करता हूं उतना बहुत ही थोड़े लोग करते होंगे।

आज भी खादीका रहस्य कुछ लोगोंकी समझमें नहीं आया है। पिछली सभामें यहांका खादी-भंडार उठा देनेके पक्षमें मैंने जो राय दी थी वह दूसरोंकी भिन्न राय होते हुए भी आजतक कायम है। उस वक्त एक दलील यह भी पेश की गई थी कि यदि हम यहांसे खादी-भंडार उठा लेंगे तो खादी-धारियोंकी संख्या बढ़ेगी नहीं बल्कि कम हो जायेगी। मैं कहता हूं कि खादीधारी कम होंगे या नहीं यह आप क्यों देखते हैं? आपकी नीति सही है या नहीं यह क्यों नहीं देखते? शिक्षा-समितिने जो योजना बनाई है वह साल दो सालमें व्यवहारमें लाई जायेगी। तब वर्धा तहसीलकी दो लाख जनसंख्यामेंसे स्कूलमें जाने लायक दसवां हिस्सा यानी बीस हजार लड़के निकलेंगे। अगर ये लड़के तीन घंटे कातकर प्रौढ़ मनुष्यके कामका एक तिहाई यानी करीब एक घंटेका काम करें तो भी बीस हजार लोगोंको स्वावलंबी बना सकने भर खादी तैयार होगी। तजवीज यह है कि यह सारी खादी सरकार खरीदे। पर 'सरकार खरीदे' इन शब्दोंका मतलब यही हो सकता है कि 'लोग खरीदें।' क्योंकि सरकार आखिर कितनी जगहकी खादी खरीद सकती है? इसलिए अंतमें तो उसे लोग ही खरीदेंगे। इसलिए स्वाभाविक रूपसे बीस हजार खादीधारी होंगे। इस तरह खादीधारी कम हो जायंगे यह डर ठीक नहीं है।

खादीके पीछे जो सही विचार-धारा है उसे समझानेकी जिम्मेदारी हमारी है। यह काम और कौन करेगा? इतने बड़े तामिलनाड प्रांतमें चरखा-संघके 'सूत-सदस्य' सिर्फ सात-आठ हैं। चरखा-संघके कर्मचारियोंका इस गिनतीमें शुमार नहीं है। जहां यह हालत है वहां खादीके विषयमें कौन विचार करने जायगा? नियमित रूपसे सूत कातनेवाले और सूत देनेवाले लोगोंकी जरूरत है। लोग कहते हैं कि हमें कातनेके लिए फुरसत नहीं। हम सूत कातना नहीं चाहते और मजदूरीके रूपमें ज्यादा पैसाभी देना नहीं चाहते फिर अहिंसाका प्रचार कैसे हो? राजाजी-ने हाल हीमें मद्रास-सरकारकी ओरसे खादी-प्रचारके लिए दो लाख

रुपये दिये हैं। लेकिन इतनेसे क्या होनेवाला है? पहलेकी सरकार भी गृह-उद्योगके नामपर क्या ऐसी मदद किसी हालतमें न देती? आज सरकार चारों तरफसे परेशानकी जा रही है। इधर जापानका डर है। उधर यूरोपमें भीषण लड़ाईका डर है। ऐसी परिस्थितिमें यह कौन कह सकता है कि हमें खुश करनेके लिए पुरानी सरकार भी पैसे न देती? लेकिन ऐसे पैसोंसे खादीका असली काम पूरा नहीं होनेका।

खादीके पीछे जो विचार-धारा है उसे समाजके सामने कार्यरूपमें उपस्थित करनेकी जिम्मेदारी हमारी है। इसलिए ग्राम-सेवा-मंडलको मेरी यह सलाह है कि वह आठ घण्टेकी आठ आने मजदूरी देकर खादी बनवाये। कम-से-कम इतना तो करे कि जिस परिमाणमें यहां (वर्धा) का जीवन-निर्वाह सावलीसे मंहगा हो उस परिमाणमें ज्यादा मजदूरी देकर खादी बनवायें। इस खादीकी खपत अगर न हो तो मैं खादीधारियोंसे साफ-साफ पूछूंगा कि आप पुतलीघरका कपड़ा क्यों नहीं पहनते? वह भी स्वदेशी तो है। समाजवादियोंके सिद्धांतके अनुसार उसपर राष्ट्रका नियंत्रण हो इतना काफी है। एकाध आदमी पूरा जीवित या पूरा मृत है, यह मैं समझ सकता हूं। लेकिन पौन जिंदा और पाव मरा हुआ है, यह कथन मेरी समझमें नहीं आ सकता। या तो वह पूरा जिंदा होगा या मरा हुआ। इसलिए अगर खादी बरतना है तो उसके मूलमें जो भावनाएं हैं, जो विचार हैं उन सबको ग्रहण कर उसे धारण करना चाहिए। जो खादीको इस तरह अंगीकार करें वे ही दरअसल खादीधारी हैं। आजतक हम खादी शब्दकी व्याख्या 'हाथका कता और हाथका बुना कपड़ा' इतना ही करते आये हैं, अब उसमें 'पूरी मजदूरी देकर बनवाया हुआ' ये शब्द और जोड़ देने चाहिए।

: २५ :

श्रमजीविका

"ब्रेड लेबर"के मानी हैं "रोटीके लिए मजदूरी।" यह शब्द आपमेंसे कई लोगोंने नया ही सुना होगा। लेकिन यह नया नहीं है। टाल्स्टायने इस शब्दका उपयोग किया है। उसने भी यह शब्द 'बांद-रेसा नामक एक लेखकके निबंधोंसे लिया और अपनी उत्तम लेखन-शैली द्वारा उसको दुनियाके सामने रख दिया। मैंने यह विषय जान-बूझकर चुना है। शिक्षण-शास्त्रका अभ्यास करते हुए भी संभव है कि इस विषयका आपने कभी विचार न किया हो। इसलिए इसी विषयपर बोलनेका मैंने निश्चय किया। इस विषयपर विचार ही नहीं बल्कि वैसा ही आचार करनेकी कोशिश भी मैं बीस सालसे करता आ रहा हूं, क्योंकि जीवनमें और साथ-साथ शिक्षणमें भी शरीर-श्रमको मैं प्रथम स्थान देता हूं।

हम जानते हैं कि हिंदुस्तानकी आबादी पैंतीस करोड़ है और चीन-की चालीस-पैंतालीस करोड़। ये दोनों राष्ट्र प्राचीन हैं। इन दोनोंको मिला दिया जाय तो कुल आबादी अस्सी करोड़तक हो जाती है। इतनी जनसंख्या दुनियाका सबसे बड़ा और महत्वका हिस्सा हो जाता है। और यह भी हम जानते हैं कि यही दोनों देश आज दुनियामें सबसे ज्यादा दुखी, पीड़ित और दीन हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों मुल्कोंने वृत्तिका जो आदर्श अपने सामने रखा था उसका पूरा अनुसरण उन्होंने नहीं किया। और बाहरके राष्ट्रोंने उस वृत्तिको कभी स्वीकार ही नहीं किया। मेरा मतलब यह कहने से है कि हिंदुस्तान-

में शरीर-श्रमको जीवनमें प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चय किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकारका हो—कातनेका हो, बढ़ईका हो, रसोई बनानेका हो, सबका मूल्य एक ही है। भगवद्गीतामें यह बात साफ शब्दोंमें लिखी है। ब्राह्मण हो, वैश्य हो या शूद्र हो, किसीको चाहे जितना छोटा या बड़ा काम मिला हो, पर अगर उसने उस कामको अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्तिको संपूर्ण मोक्ष मिल जाता है। अब इससे अधिक कुछ कहना बाकी नहीं रह जाता। मतलब यह कि हरएक उपयुक्त परिश्रमका नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्राचीन धर्मका आचरण तो हमने किया नहीं, पर एक बड़ा भारी शूद्रवर्ग निर्माण कर दिया। शूद्रवर्ग यानी मजदूरी करनेवाला वर्ग। यहां जितना बड़ा शूद्रवर्ग है उतना बड़ा शायद ही किसी दूसरी जगह हो। हमने उससे अधिक-से-अधिक मजदूरी करवाई और उसको कम-से-कम खानेको दिया। उसका सामाजिक दर्जा ही न समझा। उसे कुछ भी शिक्षा नहीं दी। इतना ही नहीं, उसे अछूत भी बना दिया। नतीजा यह हुआ कि कारीगर-वर्गमें ज्ञानका पूरा अभाव हो गया। वह पशुके समान केवल मजदूरी ही करता रहा।

प्राचीन कालमें हमारे यहां कला कम नहीं थी। लेकिन पूर्वजोंसे मिलनेवाली कला एक बात है और उसमें दिन-प्रति-दिन प्रगति करना दूसरी बात। आज भी काफी प्राचीन कारीगरी मौजूद है। उसको देखकर हमें आश्चर्य होता है। अपनी प्राचीन कलाको देखकर हमें आश्चर्य होता है, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है! आश्चर्य करनेका प्रसंग हमारे सामने क्यों आना चाहिए? उन्हीं पूर्वजोंकी तो हम संतान हैं न? तब तो उनसे बढ़कर हमारी कला होनी चाहिए। लेकिन आज आश्चर्य करनेके सिवा हमारे हाथमें और कुछ नहीं रहा। यह कैसे हुआ? कारीगरोंमें ज्ञानका अभाव और हममें परिश्रम-प्रतिष्ठाका अभाव ही इसका कारण है।

प्राचीन-कालमें ब्राह्मण और शूद्रकी समान प्रतिष्ठा थी। जो ब्राह्मण था वह विचार-प्रवर्त्तक तत्त्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था। जो किसान था वह ईमानदारीसे अपनी मजदूरी करता था। प्रातःकाल उठकर भगवान्‌का स्मरण करके सूर्यनारायणके उदयके साथ खेतमें काम करने लग जाता था और सायंकाल सूर्य भगवान् जब अपनी किरणोंको समेट लेते तब उनको नमस्कार करके घर वापस आता था। उस ब्राह्मणमें और इस किसानमें कुछ भी सामाजिक, आर्थिक या नैतिक भेद नहीं माना जाता था।

हम जानते हैं कि पुराने ब्राह्मण "उदर-पात्र" होते थे, यानी उतना ही संचय करते थे जितना कि पेटमें अटता था। यहांतक उनका अपरिग्रही आचरण था। आजकी भाषामें कहना हो तो वे ज्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदलेमें कम-से-कम वेतन लेते थे। यह बात प्राचीन इतिहाससे हम जान सकते हैं। लेकिन बादमें ऊंच-नीचका भेद पैदा हो गया। कम-से-कम मजदूरी करनेवाला ऊंची श्रेणीका और हर तरहकी मजदूरी करनेवाला नीची श्रेणीका माना गया। उसकी योग्यता कम, उसे खानेके लिए कम और उसकी प्रगतिकी, ज्ञान प्राप्त करनेकी व्यवस्था भी कम।

प्राचीन-कालमें न्याय-शास्त्र, व्याकरण-शास्त्र, वेदांत-शास्त्र इत्यादि शास्त्रोंके अध्ययनका जिक्र हम सुनते हैं। गणित-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र इत्यादि शास्त्रोंकी पाठशालाओंका जिक्र भी आता है। लेकिन उद्योगशालाका उल्लेख कहीं नहीं आया है। इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रम-धर्म माननेवाले थे, इसलिए हरएक जातिका धंधा उस जातिके लोगोंके घर-घरमें चलता था और इस तरह हरएक घर उद्योगशाला था। कुम्हार हो या बढ़ई, उसके घरमें बच्चोंको बचपन ही-से उस धंधेकी शिक्षा अपने पितासे मिल जाती थी। उसके लिए अलग प्रबंध करनेकी आवश्यकता न थी। लेकिन आगे क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि पिताका ही धंधा पुत्रको करना चाहिए,

और दूसरी ओर बाहरसे आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा, इसलिए उसीको खरीदने लगे। मुझे कभी-कभी सनातनी भाइयोंसे बातचीत करनेका मौका मिल जाता है। मैं उनसे कहता हूं कि वर्णाश्रम-धर्म लुप्त हो रहा है। इसका अगर आपको दुःख है तो कम-से-कम स्वदेशी-धर्मका तो पालन कीजिए। बुनकरसे तो मैं कहूंगा कि अपने बापका धंधा करना तुम्हारा धर्म है, लेकिन उसका बनाया हुआ कपड़ा मैं नहीं लूंगा तो वर्णाश्रम-धर्म कैसे जिंदा रह सकता है? हमारी इस वृत्तिसे उद्योग गया और उद्योगके साथ उद्योगशाला भी गई। इसका कारण यह है कि हमने शरीर-श्रमको नीच मान लिया। जो आदमी कम-से-कम परिश्रम करता है, वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान् और नीतिमान् माना जाता है।

आज ही सुबह बातें हो रही थीं। किसीने कहा, "अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते हैं" तो दूसरेने कहा, "लेकिन जबतक उनकी धोती सफेद है तबतक वे पूरे किसान नहीं हैं।" इस कथनमें एक दंश था। खेती और स्वच्छ धोतीकी अदावत है, इस धारणामें दंश है। जो अपनेको ऊपरकी श्रेणीवाले समझते हैं उनको यह अभिमान होता है कि हम बड़े साफ रहते हैं, हमारे कपड़े बिलकुल सफेद बगलेके पर-जैसे होते हैं। लेकिन उनका यह सफाईका अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीरकी डाक्टरी जांच—मैं मानसिक जांचकी तो बात ही छोड़ देता हूं—की जाय और हमारे परिश्रम करनेवाले मजदूरोंके शरीरकी भी जांच की जाय और दोनों परीक्षाओंकी रिपोर्ट डाक्टर पेश करे और कह दे कि कौन ज्यादा साफ है। हम लोटा भी मलते हैं तो बाहरसे। उसमें अपना मुंह देख लीजिए। लेकिन अंदरसे हमें मलनेकी जरूरत ही नहीं जान पड़ती। हमारे लिए अंदरकी कीमत ही नहीं होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमें शंका होती है कि खेतकी मिट्टीमें काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है। लेकिन मिट्टीमें या खेतमें काम करनेवाले किसानके कपड़ेपर जो मिट्टीका रंग

लगता है वह मैल नहीं है। सफेद कमीजके बदले किसीने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रंगीन कपड़ा समझते हैं। वैसे ही मिट्टीका भी एक प्रकारका रंग होता है। रंग और मैलमें काफी फर्क है। मैलमें जंतु होते हैं; पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगंध' होती है। गीतामें लिखा है, "पुण्योगंधः पृथिव्यां च"। मिट्टीका शरीर है, मिट्टीमें ही मिलनेवाला है, उसी मिट्टीका रंग किसानके कपड़े-पर है। तब वह मैला कैसे है? लेकिन हमको तो बिलकुल सफेद, कपास जितना सफेद होता है उससे भी बढ़कर सफेद कपड़े पहननेकी आदत पड़ गई है। मानों 'ह्वाइट वाश' ही किया है। उसे हम साफ कहते हैं। हमारी भाषा ही विकृत हो गई है।

अपनी उच्चारण-पद्धतिपर भी हमें ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते हैं उसे हम अशुद्ध कहते हैं। लेकिन पाणिनि तो कहते हैं कि साधारण जनता जो बोली बोलती है वही व्याकरण है! तुलसीदासजीने रामायण आम लोगोंके लिए लिखी। वे जानते थे कि देहाती लोग 'ष', 'श' और 'स'के उच्चारणमें फर्क नहीं करते। आम लोगोंकी जबानमें लिखनेके लिए उन्होंने रामायणमें सब जगह 'स' ही लिखा। वे नम्र हो गये। उनको तो आम लोगोंको रामायण सिखानी थी, तो फिर उच्चारण भी उन्हींका होना चाहिए। लेकिन आजके पढ़े-लिखे लोगोंने तो मजदूरोंको बदनाम करनेका ही निश्चय कर लिया है।

हममेंसे कोई गीता-पाठ,भजन और जप करता है, या कोई उपनिषद् कंठ कर लेता है, तो वह बड़ा महात्मा बन जाता है। जप, संध्या, पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है। लेकिन दया, सत्य, परिश्रममें हमारी श्रद्धा नहीं होती। जो धर्म बेकार, निकम्मा, अनुत्पादक हो उसीको हम सच्चा धर्म मानते हैं। जिससे पैदावार होती है वह भला धर्म कैसे हो सकता है? भक्ति और उत्पत्तिका भी कहीं मेल हो सकता है? लेकिन वेद भगवान्में हम पढ़ते हैं—"विश्वकी उत्पत्ति करनेवालेको कुछ कृति

अर्पण करो। उसने विश्वकी सृष्टिका रास्ता दिखा दिया, उसका अनुसरण करो।'' लेकिन हमारी साधुकी कल्पना इससे उल्टी है। एक ब्राह्मण खेतमें खोदनेका काम कर रहा है या हल चला रहा है, ऐसी तस्वीर अगर किसीने खींच दी तो वह तस्वीर खींचनेवाला पागल समझा जायगा। ''क्या ब्राह्मण भी मजदूरके जैसा काम कर सकता है ?'' यह सवाल हमारे यहां उठ सकता है। ''क्या तत्त्वज्ञानी खा भी सकता है ?'' यह सवाल नहीं उठता। वह मजेमें खा सकता है। ब्राह्मणको खिलाना ही तो हम अपना धर्म समझते हैं, उसीको पुण्य मानते हैं।

हिंदुस्तानकी संस्कृति इस हद्‌तक गिर गई, इसी कारणसे बाहरके लोगोंने इन ऊपरी लोगोंको हटाकर हिंदुस्तानको जीत लिया। बाहरके लोगोंने आक्रमण क्यों किया ? परिश्रमसे छुटकारा पानेके लिए। इसीलिए उन्होंने बड़े-बड़े यंत्रोंकी खोज की। शरीर-श्रम कम-से-कम करके बचे हुए समयमें मौज और आनंद करनेकी उनकी दृष्टि है। इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरएक राष्ट्र अब यंत्रोंका उपयोग करने लग गया है। पहली मशीन जिसने निकाली उसकी हुकूमत तभीतक चली जबतक दूसरोंके पास मशीन नहीं थी। मशीन से संपत्ति और सुख तभीतक मिला जबतक दूसरोंने मशीनका उपयोग नहीं किया था। हरएकके पास मशीन आ जानेपर स्पर्धा शुरू हो गई।

आज यूरोप एक बड़ा 'चिड़ियाखाना' ही बन गया है। जानवरोंकी तरह हरएक अपने अलग-अलग पिंजड़ेमें पड़ा है और पड़ा-पड़ा सोच रहा है कि एक-दूसरेको कैसे खा जाऊं। क्योंकि वह अपने हाथोंसे कोई काम करना नहीं चाहता। हमारे सुधारक लोग कहते हैं—''हाथोंसे काम करना बड़ा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरकीबसे छूट सके तो बड़ा अच्छा हो। अगर दो घंटे काम करके पेट भर सकें तो तीन घंटे क्यों करें ? अगर आठ घंटे काम करेंगे तो कब साहित्य पढ़ेंगे और कब सङ्गीत होगा ? कलाके लिए वक्त ही नहीं बचता।''

भर्तृहरिने लिखा है—"साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः"—जो साहित्य-संगीत-कलासे विहीन है वह बिना पुच्छविषाण (पूंछ और सींग) का पशु है। मैं कहता हूं—"ठीक है, साहित्य-संगीत-कला-विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-संगीत-कलावाला पुच्छविषाणवाला पशु है।" भर्तृहरिके लिखनेका मतलब क्या था यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन उसपरसे मुझे यह अर्थ सूझ गया। दूसरे एक पंडितने लिखा है—"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"—बुद्धिमान् लोगोंका समय काव्य-शास्त्र-विनोदमें कटता है। मानों उनका समय कटता ही नहीं, मानो वह उन्हें खानेके लिए उनके दरवाजेपर खड़ा है। काल तो जाने ही वाला है। उसके जानेकी चिंता क्यों करते हो? वह सार्थक कैसे होगा यह देखो। शरीर-श्रमको दुःख क्यों मान लिया है, यह मेरी समझमें नहीं आता। आनंद और सुखका जो साधन है उसीको कष्ट माना जाता है।

एक अमेरिकन श्रीमान्से किसीने पूछा, "दुनियामें सबसे अधिक धनवान् कौन है?" उसने जवाब दिया—"जिसकी पाचनेंद्रिय अच्छी है वह।" उसका कहना ठीक है। संपत्ति खूब पड़ी है। लेकिन दूध भी हजम करनेकी ताकत जिसमें नहीं है उसको उस संपत्तिसे क्या लाभ? और पाचनेंद्रिय कैसे मजबूत होती है। काव्य-शास्त्रसे तो "कालो गच्छति"। उससे पाचनेंद्रिय थोड़े ही मजबूत होनेवाली है। पाचनेंद्रिय तो व्यायामसे, परिश्रमसे मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी पंद्रह मिनिटका निकला है। मैंने एक किताब देखी—"फिफ्टीन मिनिट्स एक्सरसाइज"। ऐसे व्यायामसे दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी इसकी चिंता ही नहीं होती। सैंडो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगोंने व्यायामका शास्त्र भी हिंसक बना रखा है। तीन मिनिटमें एकदम व्यायाम हो जाना चाहिए। जल्दी-से-जल्दी उससे निपटकर काव्य-शास्त्रमें कैसे लग जायें, यही फिक्र है। थोड़े ही समयमें एकदम व्यायाम करनेकी जो पद्धति है उससे स्नायु (मसल्स) बनते हैं, नसें

(नर्ज्स) नहीं बनतीं। और अमरबेल जिस प्रकार पेड़को खा जाती है वैसे ही स्नायु आरोग्यको खा जाते हैं। नसें आरोग्यको बढ़ाती हैं। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे नसें बनती हैं और पाचनेंद्रिय मजबूत होती है। चौबीस घंटे हम लगातार हवा लेते हैं; लेकिन अगर हम यह सोचने लगें कि दिनभर हवा लेनेकी यह तकलीफ क्यों उठायें, दो घंटेमें ही दिनभरकी पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो, तो यही कहना पड़ेगा कि हमारी संस्कृति आखिरी दर्जेतक पहुंच गई है। हमारा दिमाग इसी तरहसे चलता है। पढ़ते-पढ़ते आंख बिगड़ जाती है तो हम ऐनक लगा लेते हैं। लेकिन आंखें न बिगड़ें इसका कोई तरीका नहीं निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया है, भेदभाव बढ़ गया है और हमपर बाहरके लोगोंका आक्रमण हुआ है—इस सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड़ दिया है।

यह तो हुआ जीवनकी दृष्टिसे। अब शिक्षणकी दृष्टिसे परिश्रमका विचार करना है।

हमने शिक्षणकी जो नई प्रणाली बनाई है उसका आधार उद्योग है, क्योंकि हम मानते हैं कि शरीरके साथ मनका निकट संबंध है। आजकल मनोविज्ञान (मानसशास्त्र) का अध्ययन करनेवाले हमें बहुत दिखाई देते हैं। पर बेचारोंको खुद अपना काम-क्रोध जीतनेका तरीका मालूम नहीं होता। मनके बारेमें इधर-उधरकी किताबें पढ़-पढ़कर दो-चार बातें कर सकते हैं। चौदह सालके बाद मनुष्यके मनमें एकाएक परिवर्त्तन होता है, इसलिए सोलह सालतक लड़कोंकी पढ़ाई होनी चाहिए, यह सिद्धांत एक मानस-शास्त्रीने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, "क्या मनमें परिवर्त्तन होनेका भी कोई पर्व होता है? हम देखते हैं कि शरीर धीरे-धीरे बढ़ता है। किसी एक दिन एक-दम दो फुट ऊंचा हो गया हो, ऐसा नहीं होता। तो फिर मनमें ही एकदम परिवर्त्तन कैसे हो सकता है?" बादमें मैंने उनको

समझाया कि हड्डियां चौदह सालके बाद जरा तेजीसे बढ़ती हैं औ: मनका शरीरके साथ संबंध होनेसे दिमाग भी उसी हिसाबसे तेजीसे विकसित होता है। शरीर और मन दोनों एक ही प्रकृतिमें, एक ही कोटिमें आते हैं।

कार्लाइल एक भारी तत्ववेत्ता और विचारक था। उसके ग्रंथ पढ़ते-पढ़ते कई जगह कुछ ऐसे विचार आ जाते थे जो मेरे विचारोंसे मेल नहीं खाते थे। शंकराचार्यका जैसा, सरल विचार-प्रवाह मालूम होता है वैसा उसके लेखोंमें नहीं दीखता। उसका चरित्र बादमें मुझे पढ़नेको मिला। उससे मुझे मालूम हुआ कि कार्लाइलको सिरके दर्दकी बीमारी थी। तब मुझे उसके लेखन-दोषका कारण मिल गया। मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा उस समयका उसका लेखन कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता होगा। योगशास्त्रमें तो मनःशुद्धिके लिए प्रथम शरीर-शुद्धि बतलाई गई है। हमारे शिक्षण-शास्त्रका भी आधार वही है। शरीर-वृद्धिके साथ मनोवृद्धि होती है। लड़कोंकी मनोवृद्धि करनी है, उनको शिक्षा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए।

परिश्रमसे उनकी भूख बढ़ेगी। जिसको दिनभरमें तीन बार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए। भूख लगना जिंदा मनुष्यका धर्म है। जिसे दिनभरमें एक ही दफा भूख लगती है, संभवतः उसका जीवन अनीतिमय होगा। भूख तो भगवान्‌का संदेश है। भूख न होती तो दुनिया बिलकुल अनीतिमान् और अधार्मिक बन जाती। फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अंदर न होती। किसीको भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कारका मौका कैसे मिलता ? सामने यह खंभा खड़ा है। इसका हम क्या सत्कार करेंगे ? इसको न भूख है, न प्यास। हमें भूख लगती है, इसलिए हमारे पास धर्म है।

लड़कोंसे परिश्रम लेना है तो शिक्षकको भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए। क्लासमें झाड़ू लगाना होता है, लेकिन इसके लिए या

तो नौकर रखे जाते हैं या लड़के झाड़ू लगाते हैं। शिक्षकको हम कभी झाड़ू लगाते नहीं देखते। विद्यार्थी क्लासमें पहले आ गये तो वे झाड़ू लगा लें, कभी शिक्षक पहले आया तो वह लगा ले, ऐसा होना चाहिए। लेकिन झाड़ू लगानेके कामको हमने नीचा मान लिया है। फिर शिक्षक भला वह कैसे करे? हम लड़कोंको झाड़ू लगानेका भी काम देंगे तो शिक्षणकी दृष्टिसे जो परिश्रम लड़कोंसे कराना है वह शिक्षकको पहले सीख लेना चाहिए और लड़कोंके साथ करना चाहिए। मैंने एक झाड़ू तैयार की है। एक रोज दो-तीन लड़कियां वहां आईं थीं। तब उनको मैंने वह दिखाई और उसमें कितनी बातें भरी हैं यह समझाया। समझानेके बाद जितनी बातें मैंने कहीं वे सब एक-दो-तीन करके उनसे दोहरवा लीं। लेकिन यह मैं तभी कर सका जब झाड़ू लगानेका काम मैं खुद कर चुका था। इस तरह हरएक चीज शिक्षणकी दृष्टिसे लड़कोंको सिखानी चाहिए। एक आदमीने मुझसे कहा, "गांधीजीने पीसना, कातना, जूते बनाना वगैरह काम खुद करके परिश्रमकी प्रतिष्ठा बढ़ा दी।" मैंने कहा, "मैं ऐसा नहीं मानता। परिश्रमकी प्रतिष्ठा किसी महात्माने नहीं बढ़ाई। परिश्रमकी निजकी ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्माको प्रतिष्ठा दी।" आज हिंदुस्तानमें गोपाल कृष्णकी जो इतनी प्रतिष्ठा है वह उनके गो-पालनने उन्हें दी है। उद्योग हमारा गुरुदेव है।

दुनियाकी हरएक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मैं धूपमें घूम रहा था। चारों तरफ बड़े-बड़े हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मैं सोचने लगा कि ऊपरसे इतनी कड़ी धूप पड़ रही है, फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे हैं? वे वृक्ष मेरे गुरु बन गये। मेरी समझमें आ गया कि जो वृक्ष ऊपरसे इतने हरे-भरे दीखते हैं उनकी जड़ें जमीनमें गहरी पहुंची हैं और वहांसे उन्हें पानी मिल रहा है इस तरह अंदरसे पानी और ऊपरसे धूप, दोनोंकी कृपासे यह सुंदर हरा रंग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें अंदरसे भक्तिका पानी और बाहरसे तपश्चर्याकी धूप मिले

तो हम भी पेड़ोंके जैसे हरे-भरे हो जायें। हम ज्ञानकी दृष्टिसे परिश्रमको नहीं देखते, इसलिए उसमें तकलीफ मालूम होती है। ऐसे लोगोंके लिए भगवान्‌का यह शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नहीं।

किताबें पढ़नेसे ज्ञान मिलता है यह खयाल गलत है। पढ़ते-पढ़ते बुद्धि ऐसी हो जाती है कि जिस समय जो पढ़ते हैं वही ठीक लगता है। एक भाई मुझसे कहते थे, "मैंने समाजवादकी किताब पढ़ी तो वे विचार ठीक जान पड़े। बादमें गांधी-सिद्धांतकी पुस्तक पढ़ी तो वे भी ठीक लगे।" मैंने विनोदमें उनसे कहा, "पहली किताब दो बजे पढ़ी होगी और दूसरी चार बजे। दो बजेके लिए पहली ठीक थी और चार बजेके लिए दूसरी।" मेरे कहनेका मतलब यह है कि बहुत पढ़नेसे हमारा दिमाग स्वतन्त्र विचार ही नहीं कर सकता। खुद विचार करनेकी शक्ति लुप्त हो जाती है। मेरी कुछ ऐसी राय है कि जबसे किताबें निकलीं तबसे स्वतन्त्र विचार-पद्धति नष्ट हो गई। कुरान शरीफमें एक संवाद आया है कि मुहम्मद साहबसे कुछ विद्वान लोगों ने पूछा, "तुम्हारे पहले जितने पैगम्बर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार ही नहीं दिखाते, तो फिर पैगम्बर कैसे बन गये?" उन्होंने जवाब दिया, "आप कौन-सा चमत्कार चाहते हैं? एक बीज बोया जाता है, उसमेंसे बड़ा-वृक्ष पैदा होता है, उसमें फूल लगते हैं और उनमेंसे फल पैदा होते हैं। यह क्या चमत्कार नहीं है?" यह तो एक जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होंने यह दिया कि, "मुझ-जैसा अनपढ़ आदमी भी आप लोगोंको ज्ञान दे सकता है, यह क्या कम चमत्कार है? आप और कौन-सा चमत्कार चाहते हैं?" हमारे सामनेकी सृष्टि ज्ञानसे भरी है। हम उसकी तहतक नहीं पहुंचते, इसलिए उसमें जो आनंद भरा है वह हमें नहीं मिलता।

रोटी बनानेका काम माता करती है। माताका हम गौरव करते हैं। लेकिन माताका असली माता-पन उस रसोईमें ही है। अच्छी-से-

अच्छी रसोई बनाना, बच्चोंको प्रेमसे खिलाना—इसमें कितना ज्ञान और प्रेम-भावना भरी है? रसोईका काम अगर माताके हाथोंसे ले लिया जाय तो उसका प्रेम-साधन ही चला जायगा। प्रेम-भाव प्रकट करनेका यह मौका कोई माता छोड़नेके लिए तैयार न होगी। उसीके सहारे तो वह जिंदा रहती है। मेरे कहनेका मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न-किसी बहाने मैं स्त्रियोंपर रोटी पकानेका बोझ लादना चाहता हूं। मैं तो उनका बोझ हलका करना चाहता हूं। इसीलिए हमने आश्रममें रसोईका काम मुख्यतः पुरुषोंसे ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि जैसे रसोईका काम माता छोड़ देगी, तो उसका ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला जायगा, वैसे ही हम अगर परिश्रम से घृणा करेंगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेंगे।

लोग मुझसे कहते हैं, "तुम लड़कोंसे मजदूरी कराना चाहते हो। उनके दिन तो गुलाबके फूल जैसे खिलने और खेलने-कूदनेके हैं।" मैं कहता हूं, बिलकुल ठीक। लेकिन वह गुलाबका फूल किस तरह खिलता है, यह भी तो जरा देखो। वह पूर्ण रूपसे स्वावलंबी है। जमीनसे सब सत्त्व चूस लेता है। खुली हवामें अकेला खड़ा होकर धूप, बारिश, बादल सब सहन करता है। बच्चोंको भी वैसा ही रखो। मैं यह पसंद करता हूं। उनसे पूछकर ही देखो कि फूलको पानी देनेमें, चंद्रकलाको घटती-बढ़ती देखनेमें आनंद आता है, या किताबोंमें और व्याकरणके नियम घोटते रहनेमें? सुरगांव (वर्धा) का एक उदाहरण मुझे मालूम है। वहां एक प्राथमिक पाठशाला है। करीब ७ से ११ सालतक के लड़के उसमें पढ़ते हैं। गांववालोंकी राय है कि वहांका शिक्षक अच्छा पढ़ाता है। परीक्षाको एक या दो महीना बाकी थे, तब उसने सुबह ७ से १०॥ तक और दोपहरमें २ से ४॥ तक, और रातको फिर ७ से ९ बजे तक—यानी कुल नौ घण्टे पढ़ाना शुरू किया। न मालूम इतने घंटे वह क्या पढ़ाता होगा और विद्यार्थी भी क्या पढ़ते होंगे! अगर लड़के पास हो गये तो हम समझते हैं कि शिक्षकने ठीक पढ़ाया है।

इस तरह ६-६ घंटे लड़कोंसे पढ़ाई करानेवाला शिक्षक लोक-प्रिय हो सकता है। लेकिन मैं तीन घंटे कातनेकी बात कहूं तो कहते हैं, "यह लड़कोंको हैरान करना चाहता है।" ठीक ही है। जहां बड़े कामसे बचनेकी फिक्रमें हों वहां लड़कोंको काम देनेकी बात भला कौन सोचे ?

फिर लोग यह पूछते हैं कि "उद्योग इष्ट है, यह तो मान लिया। लेकिन उससे इतना उत्पादन होना ही चाहिए, यह आग्रह क्यों ?" मेरा जवाब यह है कि "लड़कोंको तो जब कोई चीज बनती है तभी आनन्द आता है। बेचारे मेहनत भी करें और उससे कुछ पैदा न हो, तो क्या इसमें उन्हें आनंद आ सकता है ? किसीसे अगर कहा जाय कि 'चक्की तो पीसो' लेकिन उसमें गेहूं न डालो और आटा भी तैयार न होने दो', तो वह पूछेगा,'फिर यह नाहक चक्की घुमानेका मतलब ?' तो क्या हम यह कहेंगे कि 'भुजाएं और छाती मजबूत बनानेके लिए ?' ऐसे उद्योगमें क्या आनंद आ सकता है ? वह तो बेकारकी मेहनत हो जायगा। अतः उत्पादनमें ही आनंद है।"

इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर-श्रमकी महिमाको हम समझें। प्राइमरी स्कूलमें हम उद्योगके आधारपर शिक्षण न देंगे तो शिक्षाको अनिवार्य न कर सकेंगे।

आज गांववाले कहते हैं कि "लड़का स्कूलमें पढ़ने जाता है तो उसमें कामके प्रति घृणा पैदा हो जाती है और हमारे लिए वह निकम्मा हो जाता है। फिर उसे स्कूल क्यों भेजें ?" लेकिन हमारी पाठशालाओं-में अगर उद्योग शुरू हो गया तो मां-बाप खुशीसे अपने लड़केको स्कूल भेजेंगे। लड़का क्या पढ़ता है,यह भी देखने आयेंगे। आज तो लड़केकी क्या पढ़ाई हो रही है, यह देखनेके लिए भी मां-बाप नहीं आते। उनको उसमें रस ही नहीं मिलता। उद्योगकी पढ़ाईमें दाखिल हो जानेके बाद इसमें फर्क पड़ेगा। गांववालोंके पास काफी ज्ञान है। हमारा शिक्षक सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता। वह गांववालोंके पास जायगा और अपनी

कठिनाइयां उनको बतायेगा। स्कूलके बगीचेमें अच्छे पपीते नहीं लगते तो वह उसका कारण गांववालोंसे पूछेगा। फिर वे बतलायेंगे कि इस-इस किस्मकी खाद डालो, खाद खराब होनेसे पपीते में कीड़े लग जाते हैं। हम समझते हैं कि हम कृषि-कालेजमें पढ़े हुए हैं, इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है। लेकिन हमारा ज्ञान किताबी होता है। हम उसे व्यवहारमें नहीं लाते। जबतक हम प्रत्यक्ष उद्योग नहीं करते तब-तक उसमें प्रगति और वृद्धि नहीं होती। अगर हम गांववालोंका सह-योग चाहते हैं, उनके ज्ञानसे अगर हमें लाभ उठाना है, तो स्कूलोंमें उद्योग शुरू करना चाहिए। हमारे और उनके सहयोगसे उस ज्ञानमें सुधार भी होगा।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षकोंमें प्रेम, आनंद और श्रमके प्रति आदर उत्पन्न होगा। हमारी नई शिक्षा-प्रणाली इसी आधारपर बनाई गई है।

: २६ :

ब्रह्मचर्यकी कल्पना

यों तो हर धर्ममें मनुष्य-समाजके लिए कल्याणकारी बातें पाई जाती हैं। इस्लाम धर्ममें ईश्वर-भजन है। 'इस्लाम' शब्दका अर्थ ही 'भगवान्का भजन' है। अहिंसा भी ईसाई धर्ममें पाई जाती हैं। हिंदू ऋषि-मुनियोंने परीक्षा करके जो तत्त्व निकाले हैं वे भी दूसरे धर्मोंमें पाये जाते हैं। लेकिन हिंदूधर्मने विशिष्ट आचारके लिए एक ऐसा शब्द बनाया है जो दूसरे धर्मोंमें नहीं देख पड़ता। वह है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्म-चर्याश्रमकी व्यवस्था हिंदू-धर्मकी विशेषता है। अंग्रेजीमें ब्रह्मचर्यके लिए शब्द ही नहीं है। लेकिन उस भाषामें शब्द नहीं है इसका मतलब यह नहीं कि उन लोगोंमें कोई संयमी हुआ ही नहीं। ईसामसीह खुद ब्रह्म-चारी थे। वैसे अच्छे-अच्छे लोग संयमी जीवन बिताते हैं। लेकिन ब्रह्म-चर्याश्रमकी वह कल्पना उन धर्मोंमें नहीं है,जो हिंदू-धर्ममें पाई जाती है ब्रह्मचर्याश्रमका हेतु यह है कि मनुष्यके जीवनको आरंभमें अच्छी खाद मिले। जैसे वृक्षको जब वह छोटा होता है तब खादकी अधिक आवश्यकता रहती है; बड़ा हो जानेके बाद खाद देनेसे जितना लाभ है, उससे अधिक लाभ जब वह छोटा रहता है तब देनेसे होता है। यही मनुष्य-जीवनका हाल है। यह खाद अगर अंततक मिलती रहे तो अच्छा ही है, लेकिन कम-से-कम जीवनके आरंभ-कालमें तो वह बहुत आवश्यक है। हम बच्चोंको दूध देते हैं। उसे वह अंततक मिलता रहे तो अच्छा ही है, लेकिन अगर नहीं मिलता तो कम-से-कम बचपनमें तो मिलना ही चाहिए। शरीरकी तरह आत्मा और बुद्धिको भी जीवनके आरंभ-कालमें

अच्छी खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रमकी कल्पना है। ऋषि लोग जिस चीजका स्वाद जीवनभर लेते थे उसका थोड़ा-सा अनुभव अपने बच्चोंको भी मिले, इस दयादृष्टिसे उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना की। लेकिन आज मैं उस आश्रमके विषयमें नहीं बोलूंगा। शास्त्रका आधार भी मुझे नहीं लेना है। अनुभवसे बाहरके शब्दोंका मुझे व्यसन नहीं।

अनुभवसे मैं इस निर्णयपर आया हूं कि आजीवन पवित्र जीवन बितानेकी दृष्टिसे कोई ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहे,तो ब्रह्मचर्यकी अभावात्मक विधि उसके लिए उपयोगी नहीं होती। 'दाउ शैल्ट नॉट स्टील' आज मेरे काम नहीं आयेगा। 'सत्यं वद' इस तरहकी 'पॉजिटिव' यानी भावात्मक आज्ञा ब्रह्मचर्यके काममें आती है। विषय-वासना मत रखो, यह ब्रह्मचर्यका 'नेगेटिव' याने अभावात्मक रूप हुआ। सब इंद्रियोंकी शक्ति आत्माकी सेवामें खर्च करो, यह उसका भावात्मक रूप है। 'ब्रह्म' यानी कोई बृहत् कल्पना। अगर मैं चाहता हूं कि इस छोटी-सी देहके सहारे दुनियाकी सेवा करूं, उसके ही काममें अपनी सब शक्ति खर्च करूं, तो यह एक विशाल कल्पना हुई। विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्यका पालन आसान हो जाता है। ब्रह्म शब्दसे डरिए नहीं। मान लीजिए, एक आदमी अपने बच्चेकी सेवा करता है और मानता है कि यह बच्चा परमात्मा-स्वरूप है, इसकी सेवामें मैं सब-कुछ अर्पण कर दूंगा, और तुलसीदासजी जैसे रघुनाथजीको 'जागिए रघुनाथ कुंवर' कहकर जगाते थे वैसे ही उस लड़केको जगाता है, तो उस लड़केकी भक्तिसे भी वह आदमी ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है। मेरे एक मित्र थे। उन्हें बीड़ी पीनेकी आदत थी। सौभाग्यसे उनके एक लड़का हुआ। तब उनके मनमें विचार आया कि मुझे बीड़ीका व्यसन लगा है, इससे मेरा जो बिगड़ा सो बिगड़ा, लेकिन अब मेरा लड़का तो उससे बच जाय। मेरा उदाहरण लड़केके लिए ठीक न होगा। उदाहरण उपस्थित करनेके लिए तो मुझे बीड़ी छोड़ ही देनी चाहिए। और तबसे

उनकी बीड़ी छूट गई। यही कल्पना थोड़ी-सी आगे बढ़कर देश-सेवाकी कल्पना उनके मनमें आती तो वे संपूर्ण ब्रह्मचर्यका आसानीसे पालन कर सकते। देशकी सेवा कोई ब्रह्म-भावसे करता है तो वह ब्रह्मचारी है। उसे उसमें कष्ट जरूर उठाने पड़ेंगे। लेकिन वे सब कष्ट उसे बहुत कम मालूम होंगे। माता अपने बच्चेकी सेवा रात-दिन करती है। जब उसके पास कोई सेवाकी रिपोर्ट मांगने जायगा तो वह क्या रिपोर्ट देगी? आर्यसमाजके सेक्रेटरीसे कोई रिपोर्ट मांगे तो सौ पन्नेकी लंबी रिपोर्ट दे देंगे। लेकिन माता इतनी सेवा करती है कि उसकी वह रिपोर्ट ही नहीं दे सकती। वह अपनी रिपोर्ट इस वाक्यमें दे देगी कि "मैंने तो लड़केकी कुछ भी सेवा नहीं की।" भला माताकी रिपोर्ट इतनी छोटी क्यों? इसका कारण है। माताके हृदयमें बच्चेके प्रति जो प्रेम है, उसके मुकाबिलेमें उसकी कुछ भी सेवा नहीं हुई है ऐसा उसे लगता है। सेवा करनेमें उसे कष्ट कुछ कम नहीं सहने पड़े हैं; लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम नहीं हुए। इसलिए हम अपने सामने कोई बृहत् कल्पना रखेंगे तो मालूम होगा कि अभीतक तो हमने कुछ भी नहीं किया। इंद्रियोंका निग्रह करना, यही एक वाक्य हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायेंगे कि इतने दिन हुए और अभीतक कुछ फल नहीं दिखाई देता। लेकिन किसी बृहत् कल्पनाके लिए हम इंद्रिय-निग्रह करते हैं तो 'यह हम करते हैं', ऐसा 'कर्तरि प्रयोग' नहीं रहता। 'निग्रह किया जाता है' ऐसा 'कर्मणि प्रयोग' हो जाता है, या यों कहिए कि निग्रह ही हमें करना है। भीष्मपितामहके सामने एक कल्पना आ गई कि पिताके संतोषके लिए मुझे संयम करना है। बस, पिताका संतोष ही उनका ब्रह्म हो गया, और उससे वह आदर्श ब्रह्मचारी बन गये। ऐसे ब्रह्मचारी पाश्चात्योंमें भी हुए हैं। एक सायंटिस्टकी बात कहते हैं कि वह रात-दिन प्रयोगमें मग्न रहता था। उसकी एक बहिन थी। भाई प्रयोगमें लगा रहता है और उसकी सेवा करनेके लिए कोई नहीं है, यह देखकर वह ब्रह्मचारिणी रहकर भाईके ही पास रही और

उसकी सेवा करती रही। उस बहिनके लिए 'बंधु-सेवा' ही ब्रह्मकी सेवा हो गई। देहके बाहर जाकर कोई भी कल्पना ढूंढ़िए। अगर किसीने हिंदुस्तानके गरीब लोगोंको भोजन देनेकी कल्पना अपने सामने रखी, तो इसके लिए वह अपनी देह समर्पण कर देगा। वह मान लेगा कि मेरा कुछ भी नहीं है, जो-कुछ है वह सब गरीब जनताका है। 'जनता-की सेवा' उसका ब्रह्म हो गई है। उसके लिए जो आचार वह करेगा वही ब्रह्मचर्य है। हरएक काममें उसे गरीबोंका ध्यान रहेगा। वह दूध पीता होगा तो उसे पीते वक्त उसके मनमें विचार आ जायगा कि मैं तो निर्बल हूं इसलिए मुझे दूध पीना पड़ता है, पर गरीबोंको दूध कहां मिलता है? लेकिन मुझे उनकी सेवा करनी है, यह सोचकर वह दूध पियेगा। मगर इसके बाद फौरन ही वह गरीबोंकी सेवा करनेके लिए दौड़ जायगा। बस, यही ब्रह्मचर्य है। अध्ययन करनेमें अगर हम मग्न हो जायं तो उस दशामें विषय-वासना कहांसे रहेगी? मेरी माता काम करते-करते भजन गाया करती थीं। रसोईमें कभी-कभी नमक भूलसे दुबारा पड़ जाता था। लेकिन चिंतनमें मैं इतना मग्न रहता था कि मुझे इसका पता ही न चलता था। वेदाध्ययन करते समय मैंने अनुभव किया है कि देह मानो है ही नहीं, कोई लाश पड़ी है, ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसीलिए ऋषियोंने कहा है कि 'बचपनसे वेदाध्ययन करो'। मैंने अध्ययनके लिए ब्रह्मचर्य रखा। उसके बाद देशकी सेवा करता रहा। वहां भी इंद्रिय-निग्रहकी आवश्यकता थी। लेकिन बचपनमें इंद्रिय-निग्रहका अभ्यास हो गया था, इसलिए बादमें मुझे वह कठिन नहीं मालूम हुआ। मैं यह नहीं कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज है। हां, विशाल कल्पना मनमें रखेंगे तो आसान है। ऊंचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए संयमी जीवनका आचरण, इसको मैं ब्रह्मचर्य कहता हूं।

यह हुई एक बात। अब एक दूसरी बात और है। किसी एक विषयका संयम और बाकीके विषयोंका भोग, यह ब्रह्मचर्य नहीं है।

कल मैंने देवशर्माजीकी 'तरंगित हृदय' नामकी पुस्तक देखी। उसमें 'जरा-सा'के विषयपर कुछ लिखा था। पुस्तक मुझे अच्छी लगी। 'इतना थोड़ा-सा करनेसे क्या होता है', ऐसा मत सोचो। बोलनेमें, रहन-सहनमें, हरएक बातमें संयमकी आवश्यकता है। मिट्टीके बर्तनमें छोटा-सा छिद्र हो तो उसमें क्या हम पानी भरेंगे? एक भी छिद्र घड़ेमें है तो वह पानी भरनेके लिए बेकार ही है। ठीक उसी तरह जीवनका हाल है। जीवनमें एक भी छिद्र नहीं रखना चाहिए। चाहे जैसा जीवन बिताते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करेंगे, यह मिथ्या आकांक्षा है। बातचीत, भोजन, स्वाध्याय वगैरह सभी बातोंमें संयम रखना चाहिए।

: २७ :

स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञाका अर्थ

अक्सर ऐसा देखा गया है कि हमारे कार्यकर्त्ताओंको ज्ञानकी खुराक जितनी पहुंचानी चाहिए उतनी पहुंचानेकी व्यवस्था हम नहीं करते। राष्ट्रकी विशालता और प्रश्नोंकी जटिलताके लिहाजसे हमारे पास कार्यकर्त्ता बहुत कम हैं और उन कार्यकर्त्ताओंके पास ज्ञानकी पूंजी इससे भी कम है। हमें बहुत-से कार्यकर्त्ताओंकी जरूरत है। लेकिन हम सिर्फ बड़ी संख्या नहीं चाहते। अगर हमारे पास कर्त्तव्यदक्ष, चरित्रवान् और अपने कार्यकी भूमिका भली-भांति समझनेवाले ज्ञानवान् कार्यकर्त्ता थोड़े भी हों तो भी काम बहुत होगा।

आजसे ठीक एक महीने बाद, २६ जनवरीको, हमें स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञा करनी है। आजतक की हुई प्रतिज्ञा अधिक स्पष्ट भाषामें दुहरानी है। करीब दस वर्षसे हर साल हम उसे दुहराते हैं। इतनी बड़ी पुनरावृत्ति का क्या प्रयोजन है, यह आप लोगोंको समझानेके लिए मैं उस प्रतिज्ञाका स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूं।

हम कहते हैं कि अब स्वराज्यकी लड़ाई नजदीक आ रही है, लेकिन यह गलत है। "लड़ाई करीब है" कहनेका मतलब यह होता है कि आज लड़ाई जारी नहीं है। यह बात सही नहीं है। हमारी लड़ाई तो निरंतर जारी ही है और जारी रहनी चाहिए। हमारी लड़ाईका रूप एक नदीके समान है। वह निरंतर बहती ही रहती है। फिर भी, उसके प्रवाहमें गरमियोंमें और बरसातमें फर्क होता है। जाड़ोंमें हम नदीका असली रूप देख पाते हैं, किंतु वह बहती तो अखंड रहती है।

उसी प्रकार हमारी लड़ाई भिन्न-भिन्न रूप लेती हुई भी नित्य जारी है। हम कार्यकर्त्ताओंको यह धारणा होनी चाहिए कि हम तो हमेशा लड़ाईमें ही लगे हुए हैं।

जो यह मानते हैं कि अबतक हम नहीं लड़ रहे थे और अब लड़नेवाले हैं। उनके सामने यह सवाल पेश होता है कि अब लड़ाईके लिए क्या तैयारी करें? वे सोचते हैं कि अब जेलमें जाना पड़ेगा, इसलिए अपनी आदतें बदलनी चाहिए। लेकिन मैं तो कहता हूं कि हमारी लड़ाई हमेशा जारी है। हम लड़ाईकी आदतें डाल चुके हैं। अब उन आदतोंके बदलनेका क्या मतलब है? अब क्या 'बिना लड़ाईकी' आदतें डालनी होंगी? हमें निरंतर यही भाव जाग्रत रखना चाहिए कि हमारी लड़ाई हमेशा जारी है।

इस साल स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञामें कुछ नई बातें जोड़ दी गई हैं और उन बातोंके साथ उस प्रतिज्ञाका पुनरुच्चार करनेके लिए कहा गया है। लेकिन जहां श्रद्धा न हो वहां निरी दुहरौनीसे क्या होगा? मुझे एक कहानी याद आती है। एक था साधु। उसने अपने चेलेसे कहा—कि "रामनाम जपनेसे मनुष्य हरएक संकटसे पार हो सकता है।" उसके वाक्यमें शिष्यको श्रद्धा तो थी, लेकिन उसे इसका पूरा-पूरा विश्वास नहीं था कि राम-नाम चाहे जिस संकटसे उसे तार देगा। एकबार उसे नदी पार करनी थी। वह बेचारा अर्धश्रद्धालु राम-नाम रटते हुए नदी पार करने लगा। जैसे-तैसे गले तक पानीमें गया और वहांसे गोते खाता हुआ बड़ी मुश्किलसे वापस आया। गुरुसे कहने लगा—"लगातार नाम-स्मरण किया, लेकिन पानी कम नहीं हुआ। सब अकारथ गया। गुरु बोला, "अनेक बार नाम स्मरण किया, इसीलिए सब अकारथ गया। अगर नाम-स्मरणमें तुझे श्रद्धा थी तो एक बार किया हुआ नाम-स्मरण तुझे काफी क्यों नहीं लगा? श्रद्धा कम थी इसीलिए तूने बार-बार नाम-स्मरण किया और इसीलिए गोते खाये।" स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञा एक बार मनोयोग-पूर्वक करनेवाला सचमुच निश्चयी है, यह हम मान सकते हैं। लेकिन अगर वह हर साल प्रतिज्ञा करने लगे—इस साल नंबर

एककी प्रतिज्ञा, अगले साल नंबर दो की प्रतिज्ञा, तीसरे साल नंबर तीनकी प्रतिज्ञा, इस तरह प्रतिज्ञाएं करने लगे—तो यह शक होने लगेगा कि इस प्रतिज्ञाका कोई अर्थ भी है या नहीं ? केवल मौखिक पुनरुच्चारसे प्रतिज्ञा दृढ़ नहीं होती।

लेकिन इस सालकी प्रतिज्ञा महज दुहरानेके लिए नहीं है। उसमें महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण है। हमारी गुलामीके अनेक कारण हैं। अंग्रेजी राज्यपर हम कई आक्षेप कर सकते हैं; लेकिन सबसे बड़ा आक्षेप तो यह है कि अंग्रेजी राज्यकी बदौलत हमें फाकाकशीकी देन मिली। आप अगर लोगोंसे पूछिए कि "आपकी स्वराज्यकी परिभाषा क्या है" तो वे इस प्रकार जवाब देंगे, "आप कहते हैं कि आठ प्रांतोंमें कांग्रेसका राज स्थापित हो गया। कांग्रेसका उस तरहका राज अगर ग्यारह-के-ग्यारहों प्रांतोंमें हो जाये, और अबतक जो अधिकार नहीं मिले थे वे भी सब मिल जायं। मगर हमारी फाकाकशी ज्यों-की-त्यों बनी रहे, तो हम तो यही कहेंगे कि यह स्वराज्य नहीं है। यही हमारी परिभाषा है।" परावलंबनकी जगह स्वावलंबन प्राप्त होजाय, मगर भूखों मरना बना ही रहे, तो केवल भारतकी जनता नहीं,, बल्कि भारतकी जनताकी जैसी शोचनीय दशामें रहनेवाली संसारके किसी भी देशकी जनता कहेगी कि, हम यह स्वावलंबी फाकाकशी नहीं चाहते। न हम स्वावलंबी उपवासके कायल हैं, न परावलंबी उपवासके। हम तो भूखों मरना ही नहीं चाहते। हमें फाकाकशी ही नहीं चाहिए, फिर उसका विशेषण कुछ भी क्यों न हो।

कुछ वक्ता जोशमें आकर कह देते हैं कि "गुलामीमें चाहे जितना खानेको मिले, तो भी हमें गुलामी नहीं चाहिए, स्वतंत्रता चाहिए फिर स्वतंत्रतामें हमारी चाहे जितनी बुरी हालत हो, भूखों भी क्यों न मरना पड़े।" लेकिन उन्हीं वक्ताओंसे अगर आप यह पूछें कि 'अगर स्वराज्यमें रेलगाड़ियां न हों तो ?" तब वे कहने लगते हैं कि "ऐसा स्वराज्य किस कामका ?" उनसे पूछिए कि "रेलगाड़ीवाली गुलामीकी अपेक्षा बिना-रेलगाड़ी-

वाली स्वतंत्रता क्या अच्छी नहीं है ?" लेकिन बात उनके गले नहीं उतरेगी। "स्वराज्यकी कमी सुराज्यसे पूरी नहीं हो सकती", यह कहनेवाले बिना-रेलवाले स्वराज्यकी कल्पनासे भी घबराते हैं। तब बतलाइए कि अगर भूखों मरनेकी कल्पनासे साधारण आदमी घबराने लगें तो क्या आश्चर्य ?

यहां मुझे कोंकणकी कातकरी नामक जातिके एक रिवाजकी याद आती है। कातकरी अपनी जातिके मरे हुए आदमीसे कहता है, "देख, अगले जनममें बामण बनेगा तो रट-रटकर मरेगा; अमुक बनेगा तो अमुक काम कर-करके मरेगा, लेकिन अगर कातकरी बनेगा तो बनका राजा बनेगा।" वह गांवकी संस्कारवान परतंत्रता नहीं चाहता; उसे जंगलकी संस्कार-हीन स्वतंत्रता ही प्रिय है। शहरी और बनैले चूहोंकी कहानी मशहूर है। बनैला चूहा कहने लगा कि "मुझे न शहरकी यह शान चाहिए और न यह पराधीनता।" अगर जनताकी भी यही हालत होती तो हमें सर्वत्र स्वतन्त्रता ही दिखाई देती। स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञा तो ठेठ वेद-कालसे चली आई है—

इस वेद-वचनमें स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञा व्यक्त की गई है। 'व्यचिष्ठ'-का अर्थ है अत्यंत व्यापक, जिसमें सबको मत-दानका अधिकार हो; और 'बहुपाय्य'से मतलब है—जिसकी बहुसंख्या अल्पसंख्याकी रक्षाके लिए सावधान है, ऐसे स्वराज्यके लिए हम कोशिश कर रहे हैं—यह उस प्रतिज्ञाका अर्थ है। मतलब यह कि उस अत्रि ऋषिके जमानेसे पंडित जवाहरलालके इस जमानेतक वही स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञा विद्यमान है। वेदकी प्रतिज्ञा जैसी आप चाहते हैं ठीक वैसी ही है। उसमें भी बहुवचनका प्रयोग है।

सारांश यह कि हम अपने जोशीले व्याख्यानों या कविताओंमें स्वराज्य को जो व्याख्या करते हैं वह आम जनताके गले नहीं उतरती है। जिसमें अन्न-जलका इंतजाम न हो वैसा स्वराज्य जनता नहीं चाहती। उसे नैमित्तिक उपवासोंका अभ्यास है। एकादशी, शिवरात्रिके

दिन वह व्रत रखती है। लेकिन रोजका भूखों मरना वह सहन नहीं कर सकती। आप इसे हमारा पशुत्व भले ही कह लीजिए, लेकिन इस मानवीय पशुको पेटभर अन्न चाहिए। समाजवादियों और साम्य-वादियोंके कथनमें यही तथ्यांश (सत्य) है। हमारी भी मुख्य पुकार यही है। हम फाकाकशी नहीं चाहते। हमें भरपेट अन्न चाहिए। चाहे आप इसे हमारा अधिकार कहें, कर्त्तव्य कहें, या और किसी नामसे पुकारें। भरपेट खानेकी स्वतन्त्रता हमें चाहिए।

हिंदुस्तानमें इस प्रकारकी स्वतंत्रता स्थापित हो, यह हमारा प्रधान विचार है। मैं स्वराज्यके विषयमें विचार क्यों करता हूं? इस-लिए कि हिंदुस्तानमें स्वराज्यके बारेमें विचार न करना महापाप है। स्वराज्यका सवाल फाकाकशीसे मुक्त होनेका सवाल है। जैसा कि तिलक महाराज कहते थे, वह 'दाल-रोटीका सवाल' है।

कोई-कोई पूछते हैं कि अहिंसासे स्वराज्य कैसे मिलेगा? इसकी चर्चा अगर हम आज शुरू करें तो वह स्वराज्य-प्राप्तितक खत्म नहीं होगी। इसलिए मैं इस फेरमें नहीं पड़ता। वर्तमान यूरोपका चित्र अहिंसाका पदार्थ-पाठ है। अहिंसाके अभावमें क्या होता है, इसका पता मौजूदा यूरोपको देखनेसे चलता है। छोटे-छोटे राष्ट्र तो आज कच्चे खाये जा रहे हैं। आजकल तो सभी काम बिजलीके बटनकी तेजीसे होते हैं। पहले आदमी सौ-सौ वर्ष जीते थे, अब तड़ाक-फड़ाक मर जाते हैं। पंद्रह दिनमें पूरे-के-पूरे राष्ट्र गायब हो जाते हैं। पहले ऐसी बातें न किसीने देखी थीं, न सुनी थीं। आज तो मानों बटन दबाते ही राष्ट्र नदारद हो जाता है। चीनका कितना बड़ा हिस्सा जापान निगल गया है, इसका आज हमें पता ही नहीं। भविष्यमें जब नया नकशा तैयार होगा तब हमें पता चलेगा। शस्त्रास्त्रोंकी इतनी तैयारी करनेपर भी आखिर चीनकी क्या हालत हुई? फिर हिंदुस्तान-जैसा गलित-कलेवर राष्ट्र शस्त्रास्त्रोंसे स्वराज्य कब पा सकता है? 'यतेमहि' (कोशिश करना) तो अत्रिके जमानेसे शुरू ही है। क्या उसी तरह

अनंत कालतक कोशिश ही करते रहें ? आज तो सब कोई लाठीमें ही विश्वास करते हैं।

कुछ लोग मुझसे कहते हैं कि "तुम नये विचार नहीं पढ़ते । आधुनिक विचारोंके साथ परिचय नहीं बढ़ाते।' सुनता हूं कि ये विचार यूरोपसे जहाजमें आते हैं और बंबईके बंदरपर लगते हैं। मगर उधरसे जो कुछ आता है वह सब अच्छा ही होता है, ऐसा तो अनुभव नहीं है। उधरसे इन्फ्लुएंजाकी हवा आई जिससे साठ लाख आदमी चल बसे। विचारोंकी हवाके ये झकोरे बराए मेहरबानी बंद कीजिए। हम शिक्षा लेनेके लिए किस पाठशालामें जायं, यह भी सोचनेकी बात है। जिस शिक्षककी पाठशालामें पांच सौ छड़ियां और सिर्फ दो ही चार पुस्तकें हों उसकी पाठशालामें भी क्या हम जायेंगे ? यूरोपके लोग बहुत-सी पुस्तकें लिखते हैं। उनके पीछे खर्चे भी बहुत करते हैं, यह मैं जानता हूं। लेकिन साथ-साथ मैं यह भी तो देखता हूं कि वे फौजपर पुस्तकोंसे कितना गुना ज्यादा खर्च करते हैं। हमें विचार भी तो उसीसे ग्रहण करना चाहिए जिसका उस विचारमें विश्वास हो। शंकराचार्य जैसा कोई हो तो उससे हम विचार ले सकते हैं, क्योंकि उसकी तो यह प्रतिज्ञा है कि, "मैं विचार ही दूंगा।" उससे पूछिए कि "अगर मेरी समझमें न आये तो ?" तो वह यही जवाब देगा कि "मैं फिर समझाऊंगा।" 'और फिर समझमें न आया, तो ?' 'दुबारा समझाऊंगा।" "और फिर भी न आया तो ?""फिर समझाऊंगा, समझाता ही जाऊंगा। अंततक विचारसे ही समझाऊंगा।" जिसकी ऐसी प्रतिज्ञा है उस शंकराचार्यसे विचार सीखनेको मैं तैयार हूं। ऐसी प्रतिज्ञा अगर कोई जर्मन या रशियन करता तो उसकी पुस्तकें भी मैं खरीदता। लेकिन वह सिर्फ इतना ही कहता है कि "तुम मेरी पुस्तकें पढ़ो।" और अगर हम पूछते हैं कि "हमारी समझमें न आया तो ?" तो वह जवाब देता है, "पिटोगे।" जिसका विचारोंकी अपेक्षा छड़ीमें अधिक विश्वास है उससे विचार कैसे लें ?

यूरोपकी पद्धतिका अनुकरण करना हिंदुस्तानके खूनमें ही नहीं है। कहा जाता है कि अंग्रेजोंने हिंदुस्तानियोंके हथियार छीन लिए, यह बड़ा नैतिक अपराध किया है। मैं भी यही मानता हूं। जबरदस्ती समूचे राष्ट्रके हथियार छीनना घोर अपराध है। लेकिन मैं अपने दिलमें सोचता हूं कि "इन मुट्ठीभरलोगोंने उस समाजके पच्चीस करोड़ लोगोंके हथियार छीन कैसे लिये? इन पच्चीस करोड़के हाथ क्या घास खाने गये थे? उनके हथियार मांगते ही इन्होंने दे कैसे दिये?" इसका एक ही कारण हो सकता है। वे हथियार हम लोगोंके जीवनके अंग नहीं थे। अगर हमारे जीवनके अंग होते तो वे छीने नहीं जाते। तुकारामने एक भले आदमीका जिक्र किया है। उसके एक हाथमें ढाल और दूसरे हाथमें तलवार थी। बेचारे के दोनों हाथ उलझे हुए थे, इसलिए वह कोई बहादुरीका काम नहीं कर सकता था। वही न्याय तो यहांपर भी घटित नहीं करना है न? इसलिए हमारे हथियार छीन लिए गए। इसका सीधा अर्थ यही हो सकता है कि हिंदुस्तानके लोगोंके स्वभावमें हथियार नहीं थे। कुछ फौजी जातियां थीं। दूसरे लोग भी हथियार रख सकते थे। लेकिन रखे-रखे उनपर जंग चढ़ गया था।

लेकिन इसका यह मतलब हरगिज नहीं कि हिंदुस्तानके लोग बहादुर नहीं थे। इसका मतलब इतना ही है कि उनका हथियारोंपर दारमदार नहीं था। हिंदुस्तानके सारे इतिहासमें यह आरोप किसीने नहीं किया है कि यहांके लोग शूर-वीर नहीं हैं। सिकंदरको सारी धरती नरम लगी, लेकिन हिंदुस्तानमें उसने खासी ठोकर खाई। जहां-जहां ऊंट जा सकता था वहां-वहां मुसलमान मजेमें चले गये। जहां खजूर और रेत थी वहां उनका ऊंट बढ़ता चला गया। लेकिन हिंदुस्तानमें प्रवेश पानेमें उन्हें बीस साल लगे। हिंदुस्तान बहादुर नहीं था इसका इतिहासमें कोई सबूत नहीं है।

लेकिन हमारी संस्कृतिकी एक मर्यादा निश्चित थी। इसीलिए हमने दूसरे राष्ट्रोंपर आक्रमण कभी नहीं किया। किसी-न-किसी कारणसे

हमारी संस्कृति अहिंसक रही। तभी तो हमारी पैंतीस करोड़ जनता है। यूरोपीय राष्ट्र दो या चार करोड़की ही बात कर सकते हैं। यहां पैंतीस करोड़ हैं।

इसका यह कारण है कि हिंसाका सिद्धांत टूटा-फूटा और अहिंसा-का सिद्धांत साबित है। यूरोपकी हालत कांचके प्याले-जैसी है। जमीन-पर पटकते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। आप जरा एकाध कांचका प्याला जमीनपर पटककर तमाशा देखिए। यूरोपीय राष्ट्रोंके नकशोंके समान छोटे-बड़े टुकड़े हो जायेंगे। लेकिन हम लोगोंने अपना पानी पीने-का साबित प्याला बड़ी हिफाजतसे रखा है। कोई सज्जन बंबई जाते हैं, वहां किरायेपर एक कमरा ले लेते हैं। अकेले एक मियां और अकेली एक बीबी—यह जनाबका परिवार कहलाने लगा! वही हाल यूरोपीय राष्ट्रोंका है। यूरोप हमें सिखाता है कि अगर हम अहिंसाका मार्ग अप-नायेंगे तभी एक राष्ट्रकी हैसियतसे जी सकेंगे। यह बात हमारी जनता बड़ी जल्दी समझ जाती है। लेकिन हम शिक्षितोंके गले वह अबतक नहीं उतरती, क्योंकि हम पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजोंके मानस-पुत्र जो ठहरे। अंग्रेजोंका हमपर वरदहस्त है। उन्होंने हमारे दिमागोंपर जादू कर दिया है। इसीलिए तो पूंजीका कहीं ठिकाना न होते हुए भी हम बड़े पैमानेपर उत्पादनकी लंबी-लंबी बातें किया करते हैं। हैसियत चरखा खरीदनेकी भी नहीं, पर बात करते हैं पुतलीघर खोलनेकी।

अंग्रेजी राजमें हमारी आम जनताका यह नुकसान हुआ है कि वह भूखों मरने लगी है और शिक्षित वर्गका नुकसान इस बुद्धि-पारतंत्र्यके रूपमें हुआ है। हम उनकी तीन करोड़की किताबें खरीदते हैं। 'शिष्य-स्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्', कहकर, हाथ जोड़कर उन पुस्तकोंको पढ़ते हैं और तीन करोड़ रुपये गुरुदक्षिणामें देते हैं! उन्होंने हमारी बुद्धि 'स्व-तंत्र'—याने अपने तंत्र (वश)में कर ली है। हमसे कहा जाता है कि उनसे शिक्षा लें। क्या शिक्षा लें? बहुत 'बड़े पैमानेपर हत्या करनेकी? क्या यह भी बड़े पैमानेपर उत्पादनका ही एक रूप

समझा जांय ? हम उनसे क्या सीखें ? समाज-शास्त्र सीखें ? जिन लोगोंने पैंतीस करोड़ जनताको एकमें बांध रखा वे समाज-शास्त्र जानते हैं या वे, जो दो-दो, तीन-तीन करोड़के नन्हें-नन्हें राष्ट्र बनाकर आपसमें लड़ते-झगड़ते रहते हैं ? कहा जाता है कि किसी जमानेमें फ्रांसमें एक क्रांति हुई और उससे स्वतंत्रता, समता तथा बंधुताके सिद्धांत उत्पन्न हुए। उससे कितने ही पहले ये मुट्ठीभर पारसी इस देशमें आये और हमने उनकी रक्षा की। तो क्या हम बंधुता जानते ही न थे ? ऐ यूरोप तेरे पास ऐसा क्या है कि हम तुझसे बंधुताका पाठ पढ़ें ? तूने हमको लूटा, क्या यही तेरी बंधुताका सबूत समझा जाय ?

याद रखिए कि अगर आप हिंसाके फेरमें पड़े तो इस देशके यूरोपके समान छोटे-छोटे टुकड़े होकर ही नहीं रहेंगे, बल्कि हमारी खास परिस्थितिके कारण टुकड़े भी नहीं मिलेंगे। हमारा तो चूरा ही हो जायगा।

हमारी स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञाके तीन भाग हैं। पहला—स्वतंत्रताकी आवश्यकता क्यों है, दूसरा—स्वतंत्रता जिस मार्गसे प्राप्त करनी है उस मार्गमें श्रद्धा, और तीसरा—हमारी साधन-सामग्री अर्थात् रचनात्मक कार्यक्रम। अबतक दो भागोंका विवरण किया। अब रचनात्मक कार्यक्रमपर आता हूं।

रचनात्मक कार्यक्रममें हिंदू-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, ग्राम-सेवा और खादी आदिका समावेश है।

मुख्य बात यह है कि हम सच्चे दिलसे और लगनसे काम करें। लोग कहते हैं, "तुम रचनात्मक कार्यक्रमपर जोर देते हो; लेकिन उधर जिन्ना क्या कहते हैं, अंबेडकरका क्या कहना है, वह भी तो सुनो। उसे सुनकर गुस्सा आता है।" अंबेडकर कहते हैं कि "इन लोगोंने पूनाका समझौता किया और इन्हीं बदमाशोंने उसे तोड़ दिया।" हम कहते हैं, "हमने ईमानदारीसे उस समझौतेपर अमल करनेकी कोशिश की।" पर जरा वस्तुस्थिति तो देखिए। जनतामें क्या हो रहा है ? दूरकी बात

जाने दीजिए। सेवाग्राम और पौनारको ही ले लीजिए। पौनारमें कातनेके लिए जो लड़के आते हैं उनमें कुछ हरिजन लड़के भी हैं । उनमें एक हरिजन लड़केसे मैंने कहा, "तू खाना पकाना जानता है ?" उसने कहा 'नहीं'। मैंने कहा, "हमारे यहां रसोई बनाने आया कर, हम तुझे सिखा देंगे।" वह हमारे यहां रसोई बनाने आने लगा। मैं पौनारके कुछ लोगोंको न्यौता देने लगा। शुरूमें जो दस-पांच लोग आये वे ही आये। अब कोई नहीं आता। मैं वहां गायके दूधसे घी बनाता हूं और मट्ठा मुफ्तमें बांटता हूं। लेकिन मुफ्तका मट्ठा लेनेके लिए भी कोई नहीं आता। यह हाल है !

अच्छा, हम कार्यकर्त्ता लोग भी लगनसे काम करते हों, सो बात भी नहीं है। किसी कार्यकर्त्तासे कहा जाय कि एक हरिजन लड़केको बिलकुल अपने निजके बेटेके समान अपने परिवारमें रखो, तो वह कहता है कि यह बात हमारी स्त्रीको पसंद नहीं है, मेरी मां तो मानेगी ही नहीं। "स्त्रीको पसंद नहीं है, मां मानती नहीं है" यह सब सही है। लेकिन इसका परिणाम क्या होता है ? यही कि हम हरिजनोंको दूर रखते हैं। इसलिए अंबेडकर तो मुझे अवतार ही लगता है। चाहे किसी प्रकारकी क्यों न हो, हरिजनोंमें वह चेतना तो पैदा करता है। वह हमारा भरोसा कैसे करे ? "इसे पसंद नहीं है, वह मानता नहीं है" इन बातोंका मूल्य हमारे नजदीक हरिजनोंको अपनानेसे भी अधिक है। हम कहते हैं, हम हरिजनोंको अपने घरमें नहीं रख सकते, हम उनके घर भोजन नहीं कर सकते। इस तरह हृदयसे हृदय कैसे मिलेगा ?

समाजवादी कहता है, "तुम यह अस्पृश्यता-निवारणका झंझट ही छोड़ो। गरीबी और भूखके असल सवाल को लो।" मैं कहता हूं; "भाई, तुम्हारी युक्ति बड़ी अच्छी है, मैं उसे स्वीकार करनेको भी तैयार हूं। लेकिन भाई मेरे, वह काम नहीं आयेगी। हिंदुस्तानसे भी ज्यादा कंगाल लोग दुनियामें और कहीं हैं ? लेकिन मेरा मुफ्त दिया हुआ मट्ठा भी सवर्ण लोग लेनेको तैयार नहीं हैं। यह सवाल तुम्हारी

तदबीरसे हल नहीं होगा। तुम कहोगे कि अब छुआछूत कम हो चली है। रेलमें, स्कूलोंमें लोग छूत नहीं मानते। लेकिन इसमें तो बहुत-कुछ करामात अंग्रेजोंकी है। इसका यह अर्थ नहीं कि जनताने छुआछूत मानना छोड़ दिया है।"

अश्वमेधसहस्रेण सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

(हजारों अश्वमेधोंके साथ सत्य तोला गया; पाया गया कि सत्य ही श्रेष्ठ है।) हरिजनोंके लिए बोर्डिंग खोलना, उन्हें छात्रवृत्तियां देना, ये सब बाह्य कृतियां अश्वमेधोंके समान हैं। ऐसे हजारों अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा एक हरिजन लड़का अपने परिवारमें रखना—जिस प्रेमसे हम अपने कुटुंबियोंसे पेश आते हैं उसी प्रेमसे उसके साथ व्यवहार करना—यह सत्य अधिक महत्त्व रखता है। हमें उनके सुख-दुःखमें शामिल होना चाहिए, उन्हें अपनाना चाहिए और इस तरह उनकी स्थितिको ओढ़ लेना चाहिए।

हिंदू-मुस्लिम-एकताके सवालसे भी ऐसा ही खिलवाड़ किया जा रहा है। आज जो-कुछ हो रहा है मैं उसे खिलवाड़ ही कहूंगा। एक कहता है, "तुम आपसमें लड़ते हो, इसलिए तुम्हें स्वराज्य नहीं मिलेगा।" दूसरा जवाब देता है, "स्वराज्य नहीं है इसीलिए तो आपसमें लड़ाई होती है।"—ऐसा तमाशा चल रहा है! जरा देहातमें जाकर देखिए। वहां हिंदू-मुसलमानोंमें बैर नहीं है। सच पूछिए तो उनमें बैर है ही नहीं। कुछ महत्त्वाकांक्षी, बेकार और पढ़े-लिखे लोग दोनोंको लड़ाकर खिलवाड़ करते हैं। इन लोगोंके तीन विशेषण ध्यानमें रखिए—पढ़े-लिखे, महत्त्वाकांक्षी और बेकार। ये लोग हिंदू-मुसलमानोंको बरबस उभाड़कर उनके झगड़ोंका खिलौनेकी तरह उपयोग करते हैं।

इसका क्या इलाज किया जाय? इलाज एक ही है। जहां कहीं ऐसी दुर्घटना हो जाय वहां जाकर हम अपने प्राण दे दें। यह उपाय देहातमें काम नहीं आ सकता, क्योंकि दंगे वहांसे शुरू नहीं होते। बड़े-

लिखे, बेकार और महत्वाकांक्षी लोग जहां दंगे कराते हैं—या उनके शब्दोंमें कहें तो 'व्यवस्था करते हैं'—वहां जाकर इसका प्रयोग करना चाहिए। इन व्यवस्थापकोंने दुनियाको परेशान कर डाला है। उनसे इतनी ही विनय है कि "भाई यह धंधा छोड़ो और खुद व्यवस्थित बनो।" लेकिन वे मानेंगे नहीं। इसलिए यही एक इलाज है कि जहां दंगा हो जाय वहां जाकर हम अपना सिर फुड़वा लें। सौ-दोसौ शांति-परायण लोगोंको ऐसे मौकोंपर अपने सिर फुड़वा लेने चाहिएं।

इन झगड़ोंका कोई हद्दो-हिसाब ही नहीं। ये सिर्फ हिंदू-मुसलमानोंमें ही नहीं हैं। पहले ब्राह्मणेतर दल था ही। अब सुनते हैं, कोई मराठी लीग भी स्थापित हुई है। भुखमरे टुकड़खोरोंका बाजार गर्म है। मैं जब बड़ौदेमें रहता था तो वहांका एक पारसी किसी त्यौहारके उपलक्षमें कभी-कभी भिखारियोंको अन्न बांटता था। उन टुकड़ोंके लिए वे आपसमें लड़ते थे। वही हाल यहां है। सरकारसे जो टुकड़े मिलेंगे उन्हें ये बीचमें ही हड़पना चाहते हैं। हमारे तत्त्वज्ञानमें मृत्युके डरको स्थान नहीं है। और अब रोटियोंके अभावमें भूखों मरनेका भी अभ्यास हमें होगया है। इसलिए जहां दंगा होरहा हो वहां हमें शांति-पूर्वक जाकर बैठ जाना चाहिए। इच्छा हो तो कातना शुरू कर देना चाहिए। इतना काफी है। हम लोगोंकी ऐसी धारणा है कि बिना नारियल और सिंदूर चढ़ाये पूजा नहीं होती। नारियलकी जगह मौसंबी, नारंगी, आम आदि चढ़ानेसे काम नहीं चलता। नारियल और सिंदूर ही चाहिए। इसलिए मैं कहता हूं कि आप अपना सिर फुड़वाकर अपका रक्त चढ़ायें तो पूजा पूरी हो जायगी। लेन-देनके समझौतोंसे इन झगड़ोंका निबटारा नहीं होगा। न 'लेन' चाहिए, न 'देन'। मुस्लिमलीगसे तसफिया कैसे किया जाय ?

खादीके विषयमें भी लोग इसी तरह पूछते हैं। कहते हैं कि "खादी तो ठीक है; लेकिन यह कातनेकी बला आप क्यों लगा रहे हैं?" मैं कहता हूं कि, "क्या करूं? अगर कातनेके लिए न कहूं तो क्या

सेवंई बनानेके लिए कहूं ? आप तो कहते हैं न कि लोग भूखों मर रहे हैं ? ऐसी हालतमें कुछ-न-कुछ निर्माण करनेकी क्रिया ही राष्ट्रीय उपासना हो सकती है। इसीको आज अनुशासन कहते हैं। नहीं तो स्वराज्यके आंदोलनमें आप जनताको किस तरह शामिल करेंगे ?" अगर कोई काम न हो तो सिर्फ मुझ-जैसा बातूनी आदमी ही स्वराज्यका आंदोलन कर सकेगा—अर्थात् व्याख्यान दे सकेगा। लाखों, करोड़ों लोगोंको स्वराज्यके आंदोलनमें सीधे शामिल होनेकी कोई तरकीब निकालिए। जो तरकीब निकालें वह भी ऐसी होनी चाहिए कि लोग उसे सहजमें समझ सकें। अखबारवालोंको जब कोई बात खासतौरपर लोगोंके सामने रखनी होती है तो वे एक-एक इंचके बड़े टाइपोंमें शीर्षक देते हैं। यूरोपमें तो अब सिर्फ शीर्षकोंसे ही काम नहीं चलता, चित्र देने पड़ते हैं। वहांके मजदूर चित्रोंपरसे समाचार भांप जाते हैं। तात्पर्य यह है कि स्थूल, स्पष्ट और लोगोंका ध्यान आकृष्ट करने लायक चीज होनी चाहिए तभी कुछ काम होगा। खादी और चरखा लोगोंकी समझमें आसानीसे आनेवाला, अहिंसक आंदोलनका प्रत्यक्ष चिह्न है। उससे सारे राष्ट्रमें स्फूर्तिकी आग फैल सकती है। अगर इस इमारतमें कल आग लग जाय तो इसके जलनेमें कितनी देर लगेगी ? आप ऐसा हिसाब न लगाइए कि इसमें पहली चिनगारी लगनेमें चालीस साल लगे तो सारी इमारत जलनेमें कितने साल लगेंगे। ऐसा ऊटपटांग त्रैराशिक आप न करें। इस इमारतमें आग लगनेमें चालीस साल भले ही लग गये हों, लेकिन उसके खाक होनेके लिए एक घंटा काफी है। इसलिए तोतेके समान क्रांतिके सिद्धांत रटने-रटानेसे काम नहीं चलेगा। सिर्फ तोता पढ़ानेसे राष्ट्र प्रज्वलित नहीं होते।

'इन्किलाब जिंदाबाद' इत्यादि कई तरहके मंत्र अच्छे-अच्छे और पढ़े-लिखे आदमी भी रास्तेपर उच्चस्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर पढ़ते हैं। पढ़े-लिखे लोग कहते हैं कि पुराने लोगोंको मंत्रोंमें बेहद विश्वास था। मेरी शिकायत यह है कि आप लोगोंका विश्वास मंत्रोंमें पुराने आद-

मियोंकी बनिस्बत कहीं अधिक है। स्वराज्यका मंत्र आप जनतातक कैसे पहुंचायेंगे। इसका एक ही रास्ता है—मंत्रके साथ तंत्र भी चाहिए। जनताके साथ संपर्क कायम रखनेके लिए मंत्रकी द्योतक किसी-न-किसी बाह्य कृतिकी जरूरत है। इतिहासमें इस बातके सबूत विद्यमान हैं कि ऐसे तंत्रयुक्त-मंत्रसे समूचे राष्ट्र प्रज्वलित हो उठते हैं।

आज हम क्या मांग रहे हैं ? हम आज ही स्वतंत्रता नहीं मांगते। वह 'सौदा' हम आज नहीं कर रहे हैं। हम इतना ही कहते हैं कि आप अपनी नेकनीयती साबित करनेके लिए इतना तो करें कि हमारी विधान पंचायतकी मांग मंजूर कर लें।

यह विधान-परिषद् क्या है ? आप सिर्फ शब्दोंसे चिपके न रहिए। स्वराज्य जब मिलेगा तब मिलेगा पर शब्दोंके जंजालसे तो आज ही छुटकारा पाइए। विधान-परिषद्की मांगका इतना ही मतलब है कि हरएक बालिग व्यक्तिको मत-दानका अधिकार हो, और वह किस तरहका राज्य चाहता है यह तय करनेकी उसे आजादी हो। अगर वह यह तय करे कि मौजूदा राज ही अच्छा है तो भी कोई हर्ज नहीं।

'हरिजन'में बापूके नाम एक अंग्रेजका लिखा पत्र छपा है। वह कहता है कि सब लोगोंकी राय लेनेके झंझटमें पड़नेके बदले सयाने लोगोंकी सलाहसे इसका निर्णय किया जाय। उसकी बात मुझे भी जंचती है। 'आदमी पीछे एक राय', यह बात तो मुझे भी बेतुकी-सी मालूम होती है। हरएकको एक ही राय क्यों ? एक ही सिर है इस-लिए ? सिरकी तरफ ध्यान गया इसलिए 'फी आदमी' एक रायका नियम बना और अगर कानोंकी तरफ ध्यान जाता तो ? तब हरएककी दो-दो रायें होनी चाहिएं, ऐसा कहते। "हरएकके दो कान होते हैं, इसलिए हरएककी दो रायें होनी चाहिएं।" हरएकको एक ही रायका अधिकार होना चाहिए, इसका मुझे कोई संयुक्तिक कारण नजर नहीं आता, सिवा इसके कि हरएकके एक ही सिर होता है। क्योंकि हमारा यह अनुभव है कि एक मनुष्यमें जितनी बुद्धि होती है उसकी अपेक्षा

दूसरेमें हजारगुनी अधिक होती है। फिर भी बापूने उस अंग्रेज सज्जन-को जो जवाब दिया वह ठीक है। बापू पूछते हैं कि "ये सयाने लोग हैं कहां, और उनका प्रमाण-पत्र क्या है ?" यह सवाल मुझे भी कुंठित कर देता है। मैं एक सयानेको दूसरे हजार आदमियोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्व देता हूं। लेकिन इस सयानेपनका प्रमाण-पत्र क्या हो ? आज तो यही परिभाषा हो गई है कि वायसराय जिसे प्रमाण-पत्र देदें वही सयाना है। इस तरहके सयानोंने गोलमेज-परिषद्में जो घपला किया उसे दुनिया जानती है। अगर यह कहा जाय कि जिसे कांग्रेस कहेगी वही सयाना समझा जाय, तो यह बात भी बहुत-से लोग माननेको तैयार नहीं हैं। हम अपने घरोंमें भी यही करते हैं। जब किसी एकको या किसी बुजुर्गकी बात माननेके लिए परिवारके लोग तैयार नहीं होते तो हम सभीकी राय ले लेते हैं। वही अब तय किया गया है। विधान-पंचायतद्वारा हम इस प्रश्नका निपटारा करनेवाले हैं।

कहा जाता है कि इन निरक्षर लोगोंकी राय लेनेसे काम कैसे चलेगा ? मैं कहता हूं कि लिखने-पढ़नेका यह व्यर्थ बोलबाला क्यों ? बिना तकलीफके दूसरे लोगोंके भेजोंमें ज्ञान ठूंस देनेकी आलसी लोगों-की हिमाकतका नाम है लिखना-पढ़ना। इस लिखने-पढ़नेसे बहुत नुक-सान हुआ है। सेगांवके महात्मा गांधी किशोरलाल भाईसे कुछ कहना चाहते हैं तो एक पुरजेपर लिखकर बंद लिफाफेमें भेजते हैं। वह लिफाफा लेकर एक अनाड़ी आदमी किशोरलाल भाईको दे देता है और वे बापूकी बात समझ लेते हैं। बचपनमें हम 'बोलती चिपरी' (टाकिंग चिप)[1]का किस्सा पढ़ा करते थे। लोग कहते हैं कि "देखो क्या चम-

---

[1] दक्षिण अफ्रीकामें एक अंग्रेजको दूसरे अंग्रेजके पास एक छोटा-सा संदेश भेजना था। लिखने-लिखानेका सामान पास था नहीं। एक चिपरी (लकड़ीके टुकड़े) पर लिखकर वहांके एक आदिमवासीको दे दिया। उसने हाथमें लेकर पूछा, क्या कहना होगा ? साहब बोला, यह

स्कार है ! पढ़ने-लिखनेकी कलाकी बदौलत चिपरियां भी बोलने लगीं ।"
मेरी यह शिकायत है कि सिर्फ चिपरियां ही बोलनेवाली नहीं हुईं,
बल्कि बोलनेवाले चिपरियों-जैसे गूंगे हो गये । अगर लिखनेकी कला
न होती तो गांधीजीको अपनी जगह छोड़कर किशोरलाल भाईके पास
जाना पड़ता । लेकिन हमेशा ऐसा करना मुश्किल है । इसलिए दूसरा
उपाय यह करना पड़ता कि उन्हें अपने आस-पासके लोगोंको अच्छी
तरह समझा-बुझाकर होशियार बनाना पड़ता कि वे ठीक-ठीक संदेसा
पहुंचा सकें । लेकिन लिखनेकी कलाकी बदौलत आदमियोंका काम
चिपरियां बनानेसे चल सकता है । गांधीजीके पास जितने बेवकूफ
आदमी रह सकते हैं उतने क्या कभी प्राचीन ऋषियोंके पास रह सकते
थे ? आज चिट्ठीके जरिये गाधीजीकी बात बीचके आदमियोंको लांघकर
मेंढकके समान छलांग मारकर किशोरलाल भाईके पास पहुंच जाती है ।
"हिंदुस्तानके लोग भेड़-बकरियोंकी भांति अपढ़ हैं, तभी तो तीन-चार
लाख गोरे उनपर राज्य कर सकते हैं । इतनी तो भेड़ें भी कोई नहीं
संभाल सकता ।" इस तरहकी बातें मैं अकसर व्याख्यानोंमें सुनता हूं ।
मेरा जवाब यह है कि अगर हिंदुस्तानके लोग भेड़ होते तो उनकी देख-
भालके लिए बहुत-से लोगोंकी जरूरत पड़ती । वे आदमी हैं—और
जिम्मेदार और समझदार आदमी हैं—इसलिए उनकी राज्य-व्यवस्थाके
लिए बहुत आदमियोंकी जरूरत नहीं । ये फालतू तीन-चार लाख गोरे
जब नहीं थे तब भी उनका राज्य खूब अच्छी तरह चलता था ।

यहांके लोग अपढ़ भले ही हों, लेकिन अजान नहीं हैं । हमारे यहां
इसपर कभी बहस नहीं हुई कि स्त्रियोंको मतदानका अधिकार हो या
नहीं । यूरोपमें स्त्रियोंको मतदानके अधिकारके लिए पुरुषोंसे लड़ना

चिपरी बोल देगी । पानेवालेने लानेवालेसे कहा, ठीक है, समझ गया ।
आदिमवासीने समझा चिपरीने इसे बोल दिया । इससे इस 'बोलती
चिपरी' पर बड़ा अचरज हुआ ।

पड़ा। हमारे यहां एनी बेसेंट और सरोजिनी देवीका कांग्रेसका अध्यक्ष-पद प्राप्त करना स्वाभाविक माना गया।

मतलब यह कि यहांके लोग समझदार और अनुभवी हैं। पढ़े-लिखे न हों, तो भी विधान-पंचायतके लिए प्रतिनिधि चुननेके लायक हैं। फरवरी, १९४०]

: २८ :

खादी और गादीकी लड़ाई

सोनेगांवकी खादी-यात्रामें शिष्ट लोगोंके लिए गादी (गद्दी) बिछाई गई थी। 'शिष्ट'की जगह चाहे 'विशिष्ट' कह लीजिए, क्योंकि वहां जो दूसरे लोग आये थे वे भी शिष्ट तो थे ही। उस मौकेपर मुझे कहना पड़ा था कि खादी और गादीकी अनबन है, दोनोंकी लड़ाई है और अगर इस लड़ाईमें गादीकी ही जीत होनेवाली हो तो हम खादीको छोड़ दें।

लोग कहते हैं, 'खादीकी भी तो गादी बन सकती है?' हां, बन क्यों नहीं सकती? अंगूरसे भी शराब बन सकती है। लेकिन बनानी नहीं चाहिए और बनानेपर उसे अंगूरमें शुमार न करना ही उचित है।

हमें ध्यान देना चाहिए भावार्थकी तरफ। बीमार, कमजोर और बूढ़ोंके लिए गादीका इंतजाम किया जाय तो बात और है। लेकिन जो शिष्ट समझे जाते हैं उनमें और दूसरोंमें फर्क करके उनके लिए भेद-दर्शक गद्दी-तकियेका आसन लगाना बिलकुल दूसरी ही चीज है। इस दूसरी तरहकी गादी और खादीमें विरोध है।

वास्तवमें तो जो गादी हमेशा आलसी लोगों और खटमलोंकी सोहबत करती है उसे शिष्ट जनोंके लिए बिछाना उनका आदर नहीं बल्कि अनादर करना है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिष्ट लोग भी इसमें अपना अपमान नहीं समझते। हमने तो यहांतक कमाल कर दिया कि शंकराचार्यकी भी गद्दी बनानेसे बाज नहीं आये! शंकराचार्य तो कह गये—"कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः"—"लंगोटिये ही सबसे बड़-

भागी हैं।" और किसीको उनकी यह बात चाहे जंचे या न जंचे, कम-से-कम आचार्यके भक्तोंको तो जंचनी चाहिए।

राष्ट्र ऊपर उठते हैं और गिरते हैं। लेकिन आलस्य, विलासिता और जड़ता कभी ऊपर उठती ही नहीं। शिवाजी महाराज कहा करते थे कि "हम तो धर्मके लिए फकीर बने हैं।" लेकिन पेशवा तो पानीपत-की लड़ाईके लिए भी सकुटुंब, सपरिवार गये, मानो किसी बरातमें जा रहे हों। और वहांसे कार्य-सिद्धिसे हाथ धोकर अपना-सा मुंह लेकर लौटे! गिबनने कहा है—"रोम चढ़ा कैसे?" "सादगीसे"; "रोम गिरा कैसे?" "भोग-विलाससे।"

कुछ साल पहले, असहयोगके आरंभकालमें, देशके युवकों और बूढ़ोंमें, पुरुषों और स्त्रियोंमें, त्यागवृत्ति और वीरताका संचार होने लगा था। सत्रह-सत्रह आने गजवाली खादी—टाट-जैसी मोटी—लोग बड़े अभिमानसे बेचते थे और खरीदनेवाले भी अभिमानसे खरीदते थे। आगे चलकर धीरे-धीरे हम खादीका कुछ और ही ढंगसे गुण-गान करने लगे। खादी बेचनेवाले गर्वसे कहने लगे, "देखिए अब खादीमें कितनी तरक्की हो गई है! बिलकुल अप-टू-डेट—अद्यतन-पोशाक, विलासी, भड़कीली, महीन, जैसी आप चाहें, खादीकी बनवा लीजिए। और सो भी पहलेकी अपेक्षा कितने सस्ते दामोंमें!" खरीदार भी कहने लगे, "खादीकी प्रतिष्ठा इसी तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़े और एक दिन वह मिलके कपड़ेकी पूरी-पूरी बराबरी करे।" लेकिन उनकी समझमें यह मोटी-सी बात न आती थी कि यदि खादीको मिलके कपड़ेकी बरा-बरी करनी है तो फिर खादीकी जरूरत ही किसलिए है? मिलें ही क्या बुरी हैं? वैद्य अपनी दवाईकी तारीफ करने लगा, "बिलकुल सस्ती दवाई है, न परहेजकी जरूरत, न पथ्यकी।" मरीज आ गया चकमेमें। लेकिन बेचारा यह भूल गया कि 'पथ्य परहेज नहीं तो फायदा भी नहीं।"

कोई गलत अर्थ न समझे। कहनेका यह मतलब कतई नहीं है कि

मजदूरोंको पूरी-पूरी मजदूरी देकर खादी सस्ती करना हमारा कर्त्तव्य नहीं है। यह भी कोई नहीं कहता कि खादी सब लोगोंकी सब तरहकी जरूरतें पूरी न करे। प्रश्न केवल इतना ही है कि खादीका गौरव किस बातमें है? किसीकी आंखें बिगड़ गई हों तो उसे ऐनक जरूर देनी चाहिए। लेकिन ऐनकधारीको देख उसे 'पद्मलोचन' कहकर उसकी बड़ाई तो नहीं की जा सकती।

यहां एक प्रसंग सहज ही याद आ रहा है। एक रसिक दृष्टिवाला कलाधर एक बार पंढरपुर जाकर विठोबाके दर्शन कर आया। मुझसे कहने लगा, "विठोबाके सारे भक्त उनके रूपकी प्रशंसा करते नहीं अघाते; उनके उद्घोष (स्लोगंस) सुन-सुनकर तो जी ऊब गया। लेकिन मुझे तो उस मूर्त्तिको देखकर कहीं भी सुंदरताका खयाल नहीं आया! एक निरा बेडौल पत्थर नजर आया! मूर्त्तिकार और भक्तगण दोनों, मुझे तो ऐसा लगता है कि, यदृच्छालाभसे ही संतुष्ट हो गये। पंचतन्त्र-वाले किस्सेमें जिस तरह उन तीन धूर्तोंने सिर्फ बार-बार कह-कहकर बकरेको कुत्ता बना दिया, ठीक उसी तरह इन लोगोंने चिल्ला-चिल्ला-कर बेडौल पत्थरमें सुंदरता निर्माण करनेकी ठान ली है।" मैंने जवाब दिया, "हां, यही बात है। इस संसारकी भीमा नदीमें गोते खानेवालों-को उबारनेका जिसने प्रण किया है उसे तो मजबूत, दृढ़, ठोस और हट्टा-कट्टा ही होना चाहिए। वह यदि शेष-शय्यापर लेटनेवाले या पंचायतन-का ठाट जमाकर तसवीर खिंचवानेके लिए आसन लगानेवाले देवताकी सुंदरताका अनुकरण करे तो क्या यह उसे शोभा देगा?" रामदासने सिखाया है—"मनुष्यके अंतरंगका शृंगार है चातुर्य; वस्त्र तो केवल बाहरी सजावट है। दोनोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार करो।" इसीलिए शिवाजीको हट्टे-कट्टे मावलों-जैसे साथी मिले।"

मेरा समाजवादी दोस्त कहेगा, "तुम तो बस वही अपना पुराना राग अलापने लगे। बस, फिर उसी दरिद्रनारायणकी पूजामें मगन हो गये! यहां दरिद्रताके पुजारी नहीं हैं। अपने राम तो वैभवके आराधक

हैं।" मैं उससे कहना चाहता हूं, "मेरे दोस्त, इस तरह अक्लके पीछे लट्ठ लेकर मत पड़ो। हम कब दारिद्र्यको नारायण कहते हैं ? हम तो 'दरिद्र'को नारायणके नामसे पुकारते हैं। और 'दरिद्र'को नारायण नाम दिया, इसका यह मतलब थोड़े ही है कि धनिक 'नारायण' नहीं हो सकता ? यदि मैं कहूं कि 'मैं ब्रह्म हूं' तो इसका यह अर्थ थोड़े ही है कि 'तुम ब्रह्म नहीं हो ?' बस, अब तो संतोष हुआ ? दरिद्र भी नारायण है और श्रीमान् भी। दरिद्रनारायणकी पूजा उसकी दरिद्रता दूर करनेसे पूरी होती है, और श्रीमन्नारायणकी पूजा उसे सच्चे ऐश्वर्यका अर्थ समझाकर उसका त्याग करवानेसे होती है, और जब किसी मूर्ख-नारायणसे पाला पड़े तो उसकी पूजा इस प्रकार विश्लेषण करके समझानेसे होती है क्यों, ठीक है न ?"

लेकिन, इस यथार्थ विनोदको जाने दीजिए। अगर समाजवादी दोस्तको वैराग्य नहीं सुहाता तो वैभव ही सही। वैभव किसे कहना चाहिए और वह कैसे प्राप्त किया जाता है, इन बातोंको भी रहने दीजिए। लेकिन समाजवादी कम-से-कम साम्यवादी तो है न ? दो-चार आदमियोंको नरम-नरम गादी मिले और बाकी सबको टाटके चीथड़े या धूल नसीब हो, यह तो उसे नहीं भाता न ? जब मैंने खादी और गादीकी लड़ाईकी बात छेड़ी तो मेरे मनमें यह अर्थ भी तो था ही। सब लोगोंके लिए गादी लगाई गई होती तो दूसरा ही सवाल खड़ा होता। लेकिन यह मुमकिन नहीं था। और मुमकिन नहीं था इसीलिए मुनासिब भी नहीं था, यह ध्यानमें आना जरूरी था।

आजकल हमारे कुछ दोस्तोंमें एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर विषम व्यवहारका बड़ा जोर है। साम्यवाद और विषम व्यवहार बड़े आनंदसे साथ-साथ चल रहे हैं। फैजपुरके बाद हरिपुराकी कांग्रेसने विषमताकी दिशामें एक कदम और आगे बढ़ाया। अध्यक्ष, विशिष्ट पुरुष, बड़े नेता, छोटे नेता, प्रतिनिधि, माननीय दर्शकगण और देहाती जनता—इन सबके लिए वहां दर्जेवार प्रबंध किया गया था। गांधीजी-

के लिए यह दारुण दुःखका विषय था, यह बात जाहिर हो चुकी है। यह विषम व्यवहार खास मौकोंपर ही होता हो, सो बात भी नहीं। हमारे जीवन और मनमें उसने घर कर लिया है। "मजदूरोंको पूरा-पूरा वेतन दिया जाना चाहिए या नहीं", इस विषयपर बहस हो सकती है; पर, व्यवस्थापकोंको पूरा वेतन दिया जाय या नहीं", इसकी बहस कोई नहीं छेड़ता। जिन्हें हम देहातकी सेवाके लिए भेजते हैं उन्हें अपना रहन-सहन ग्राम-जीवनके अनुकूल बनानेकी हिदायतें देते हैं। उन्हें देहातमें भेजने और हिदायतें देनेको हम तैयार रहते हैं, लेकिन हमें इस बातकी तीव्र तो क्या, तनिक भी अनुभूति नहीं होती कि स्वयम् हमको भी अपनी हिदायतोंके अनुसार चलनेकी कोशिश करनी चाहिए। साम्यकी भेदसे दुश्मनी है, लेकिन विवेकसे तो नहीं है? इसी-लिए बूढ़ोंके लिए गादी हमने मंजूर कर ली है। इसी तरह देहातकी सेवाके लिए जानेवाले युवक कार्यकर्त्ता और उन्हें वहां भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओंके जीवनमें थोड़ा-बहुत फर्क होना न्याय-संगत है और विवेक उसे मंजूर करेगा। इसीलिए साम्य-सिद्धांतको भी उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं रहेगी। लेकिन आज जो फर्क पाया जाता है वह थोड़ा बहुत नहीं है। अक्सर वह बहुत मोटा, नजरमें सहज ही आनेवाला ही नहीं बल्कि चुभनेवाला होता है। इस विषम वैभवका नाम गादी है। और इस गादीसे खादीकी दुश्मनी और लड़ाई है।

हाल -हीमें आश्रममें एक बातकी चर्चा हो रही थी। आश्रमकी आबादी बढ़ रही है, इसलिए अब नई जगह मोल लेकर ग्राम-रचना शास्त्रके अनुसार व्यवस्थित नक्शा बनाना चाहिए। बुनकर, कातने-वाले, बढ़ई आदि मजदूर और व्यवस्थापक-वर्ग, परिवार, दफ्तरके कार्य-कर्त्ता, आश्रमवासी, मेहमान आदिके लिए किस प्रकारके मकान बन-वाने चाहिए, यह मुझसे पूछा गया। पूछनेवाला खुद साम्यपूजक तो था ही, और मैं साम्यवादी हूं यह भी जानता था। मैंने कुछ मन-ही-मन और कुछ प्रकट रूपमें कहा—"मैं दाल हजम नहीं कर सकता,

इसलिए दही खाता हूं। मजदूरको दहीका शौक तो है, लेकिन वह दाल हजम कर सकता है। इसलिए दाल से काम चला लेता है। इतनी विषमता तो हम विवेककी दुहाई देकर हजम कर गये। लेकिन क्या हमारे लिए मकान भी भिन्न-भिन्न प्रकारका होना जरूरी है? जिस तरहके मकानमें मजदूर अपनी जिंदगी बसर करता है उसी तरहका मकान मेरे लिए भी काफी क्यों नहीं हो सकता? या फिर, उसका भी मकान मेरे मकानके समान क्यों न हो?"

आप चाहे वैराग्यका नाम लें चाहे वैभवका, विषमताको बर्दाश्त हरगिज न कीजिए। इसीका नाम है "आत्मौपम्य"। सच्चा साम्यवाद यही है। उसपर तुरंत अमल किया जाना चाहिए। साम्यवादका कोई महत्त्व नहीं है; महत्त्व है "तत्काल साम्यवाद"का। साम्यवादको तुरंत कार्यान्वित करनेकी सिफतका नाम अहिंसा है। अहिंसा हरएकसे कहती है कि "तू अपने-आपसे प्रारंभ कर दे तो तेरे लिए तो आज ही साम्यवाद है।" अहिंसाका चिह्न है खादी। खुद खादी ही अगर भेद-भाव सहे, तब तो यही कहना होगा कि उसने अपने हाथों अपना गला घोंट लिया।

इस सारे अर्थका संग्राहक सूत्र-वाक्य है—"खादी और गादीमें लड़ाई है।"

दानके मानी 'फेंकना' नहीं, बल्कि 'बोना' है।

बीज बोते समय जिस तरह हम जमीन अच्छी है या नहीं इसका विचार करते हैं, उसी तरह हम जिसे दान देते हैं, वह भूमि, वह व्यक्ति, कैसा है इस तरफ ध्यान देना चाहिए। किसान जब बीज बोता है तो एक दानेके सौ दाने करनेके खयालसे बोता है। वह उसे बड़ी सावधानी-से बोता है। घरके दाने खेतमें बोता है। उन्हें चाहे जैसे बेतरतीब बखेर नहीं देता। घरके दाने तो कम थे लेकिन वहां खेतमें वे सौगुने बढ़ गये। दान-क्रियाको भी यही हाल है। जिसे हमने मुट्ठी-भर दाने दिये, क्या वह उनकी कीमत बढ़ायेगा? क्या वह उन दानोंकी अपेक्षा सौगुने मूल्यका कोई काम करेगा? दान करते समय लेनेवाला ऐसा ढूंढ़िए जो उस दानकी कीमत बढ़ाये। हम जो दान करें वह ऐसा हो जिससे समाजको सौगुना फायदा पहुंचे। वह दान ऐसा हो जो समाजको सफल बनाय। हमें यह विश्वास होना चाहिए कि उस दानकी बदौलत समाज-में आलस्य, व्यभिचार और अनीति नहीं बढ़ेगी। आपने एक आदमी-को पैसे दिये, दान दिया और उसने उनका दुरुपयोग किया, उस दान-के बलपर अनीतिमय आचरण किया; तो उस पापमय मनुष्यसे सहयोग करनेके कारण आप भी दोषभागी बने। आपको यह देखना चाहिए कि हम असत्य अनीति, आलस्य, अन्यायसे सहयोग कर रहे हैं या सत्य, उद्योग, श्रम, लगन, नीति और धर्मसे। आपको इस बातका विचार करना चाहिए कि आपके दिये हुए दानका उपयोग होता है या दुरुप-योग। अगर आप इसका खयाल न रखेंगे तो आपकी दान-क्रियाका अर्थ होगा किसी चीजको लापरवाहीसे फेंक देना। हम जो दान देते हैं उसकी तरफ हमारा पूरा-पूरा ध्यान होना चाहिए। दानका अर्थ है बीज बोना। आपको यह देखना चाहिए कि यह बीज अंकुरित होकर इसका पौधा बढ़ता है या नहीं।

तगड़े और तंदुरुस्त आदमीको भीख देना, दान करना अन्याय है। कर्महीन मनुष्य भिक्षाका, दानका अधिकारी नहीं हो सकता।

भगवान्‌का कानून है कि हरएक मनुष्य अपनी मेहनतसे जिये। दुनियामें बिना शारीरिक श्रमके भिक्षा मांगनेका अधिकार केवल सच्चे संन्यासीको है। सच्चे संन्यासीको—जो ईश्वर-भक्तिके रंगमें रंगा हुआ है ऐसे संन्यासीको—ही यह अधिकार है। क्योंकि ऊपरसे देखनेमें भले ही ऐसा मालूम पड़ता हो कि वह कुछ नहीं करता, फिर भी दूसरी अनेक बातोंसे वह समाजकी सेवा किया करता है। पर ऐसे संन्यासीको छोड़कर और किसीको भी अकर्मण्य रहनेका अधिकार नहीं है। दुनिया-में आलस्य बढ़ाने-सरीखा दूसरा भयंकर पाप नहीं है।

आलस्य परमेश्वरके दिये हुए हाथ-पैरोंका अपमान है। अगर कोई अंधा हो तो उसे रोटी तो मुझे देनी चाहिए, लेकिन उसको भी सात-आठ घंटे काम तो दूंगा ही। उसे कपास लोढ़नेका काम दे दूंगा। जब एक हाथ थक जाय तो दूसरा हाथ काममें लाये और इस तरह वह आठ घंटे परिश्रम करे और मेहनतकी रोटी खाये। अंधे, लूले और लंगड़े भी जो काम कर सकें वह काम उनसे कराके उन्हें रोटी देनी चाहिए। इससे श्रमकी पूजा होती है और अन्नकी भी। इसलिए जिसे आप दान देते हैं वह कुछ समाज-सेवा, कुछ उपयोगी काम करता है या नहीं, यह भी आपको देखना चाहिए। उस दानको बोया हुआ बीज समझिए। समाजको उसका पूरा-पूरा बदला मिलना जरूरी है। अगर दाता अपने दानके विषयमें ऐसी दृष्टि नहीं रखेगा तो वह दानधर्मके बदले अधर्म होगा। अविवेक या निरी लापरवाहीका काम होगा।

हर किसीको कुछ-न-कुछ दे देनेसे, भोजन करानेसे, बिना विचारे दानधर्म करनेसे अनर्थ होता है। अगर कोई गोरक्षिणी या गोशालाको कुछ देना चाहता है तो उसे देखना चाहिए कि क्या उस गोशालासे अधिक दूधवाली गायें निकलनेवाली हैं? क्या वहां गायोंकी नस्ल सुधारनेकी भी कोशिश होती है? क्या बच्चोंको गायका सुंदर और स्वच्छ दूध मिलता है? क्या वहांसे अच्छी-अच्छी जोड़ियां खेतीके लिए मिलती हैं? क्या गोरक्षण और गोवर्धनकी वैज्ञानिक छानबीन वहां

होती है ? जहां मरियल गायोंकी भरमार है, बेहद गंदगीसे सारी हवा दूषित हो रही है, ऐसे पिंजरापोल रखना दान-धर्म नहीं है। किसी भी संस्था या व्यक्तिको आप जो कुछ देते हैं उससे समाजको कहांतक लाभ होता है, यह आपको देखना ही चाहिए। हिंदुस्तानमें दानवृत्ति तो है, लेकिन उसमें विवेक-विचार न होनेके कारण समाज समृद्ध और सुंदर दिखनेके बजाय आज निस्तेज, दबा हुआ और रोगी दिखाई देता है। आप पैसे फेंकते हैं, बोते नहीं हैं। इससे न इहलोक बनता है, न परलोक, यह आप न भूलें।

दानका भी एक शास्त्र है। वह कोई विवेकशून्य क्रिया नहीं है। खादी पहनकर हम इस दान-कर्मको बड़े उत्कृष्ट ढंगसे संपन्न कर सकते हैं। मैं यह आपको समझा दूंगा। आपकी बुद्धिमें न्यायसंगत जंचे तभी आप इसे मानें। आप लोगोंमें बहुतेरे व्यापारी हैं। और व्यापारी तो बड़े हिसाबी होते हैं। मुझे हिसाबी आदमी बहुत पसंद हैं। हिसाबी वृत्तिका अर्थ है हरएक वस्तुकी उपयोगिता देखना। यह आध्यात्मिक चीज है। साधु-संतोंकी ऐसी कई कथाएं हैं कि वे एक-एक पाईके हिसाबके लिए रातभर जागते रहे। परमार्थका मतलब है बहुत उत्कृष्ट हिसाब। परमार्थके मानी बावलापन नहीं है। परमार्थ बहुत श्रेष्ठ व्यापार है। उसका अर्थ है हरएक क्रियाकी ओर विचारपूर्वक देखना। मैं आज आप लोगोंको जमा-खर्च लिखना सिखानेवाला हूं। आप कहेंगे, "लीजिए, यह बाबाजी अब हमें हिसाब रखना सिखायेंगे! यहां तो सारी उम्र जमा-खर्चमें ही गुजरी है।" लेकिन मैं फिर साफ-साफ कहता हूं कि आप जमा-खर्च नहीं जानते। यह आपको मुझसे सीखना चाहिए।

लोग कहते हैं कि खादी मंहगी होती है। मैंने दोपहरको कुछ मित्रोंको हिसाब करके दिखा दिया कि वह मंहगी नहीं है। उन्होंने मुझे आंकड़े बतलाये। सालमें अगर मिलका कपड़ा १०) का खरीदना पड़े तो उतनी ही खादीके दाम १४) हो जाते हैं। मतलब यह कि हर महीने साढ़े छः आने ज्यादा देने पड़ते हैं। यानी हर रोज करीब ढाई

पाई, अर्थात् लगभग कुछ नहीं। जो जनता स्वराज्य प्राप्त करना चाहती है वह अगर रोज ढाई पाई भी न दे सकती हो और पांच तोले अधिक वजन होनेके कारण खादी न बरत सकती हो, तो वह साफ शब्दोंमें यही क्यों नहीं कह देती कि हमें न स्वराज्यकी चाह है और न स्वतंत्रताकी। लेकिन इसे जाने दीजिए। मैं दूसरी ही बात कहूंगा। आप जब मिलका कपड़ा खरीदते हैं तो १०) कपड़े खाते खर्च लिखते हैं और खादी खरीदते हैं तो लिखते हैं १५) कपड़े खाते नाम। लेकिन मैं कहता हूं कि खादीका हिसाब लिखनेमें आपको १५) खादी खाते खर्च नहीं लिखना चाहिए। १५)के दो भाग कीजिए। १०)का कपड़ा और ५) दान-धर्म, कुल मिलाकर १५) इस तरह हिसाब लिखिए। आपको जो ५) अधिक देने पड़े वे दूर रहनेवाले श्रमिकोंको मिले। यह वास्तविक दान-धर्म है। खादी कितने लोगोंको आश्रय दे सकती है, इसका विचार कीजिए। हमारे देशकी मिलें तिहाई हिंदुस्तानके कपड़ोंकी जरूरत पूरी करती हैं। अगर हम यह समझ लें कि उनमें पांच लाख मजदूर काम करते हैं, तो हिंदुस्तानकी मिलोंका कपड़ा खरीदनेसे पांच लाख मजदूरोंको रोजी मिलती है। सारे हिंदुस्तानकी जरूरत पूरी करने लायक कपड़ा तैयार करनेका वे इरादा कर लें तो १५ लाख मजदूरोंको काम मिलेगा। परंतु खादी?—खादी करोड़ों मजदूरोंको काम दे सकती है। अगर हम विलायती कपड़ा बिलकुल न खरीदें तो मिलके जरिए १५ लाख मजदूरोंको काम दे सकते हैं। लेकिन अगर खादी मोल लें तो करोड़ों मजदूरोंको काम दे सकते हैं। खादी न खरीदना करोड़ों लोगोंके मुंहका कौर छीन लेनेके बराबर है। आधुनिक अर्थशास्त्रका सबसे बड़ा सिद्धांत यह है कि संपत्तिका जितना वितरण हो उतना ही समाजका कल्याण होगा। किसी एकके पास दौलत न रहने पाये, वह बंट जानी चाहिए। यह बात खादीके द्वारा ही हो सकती है। मिलका पैसा मिलवाले और उनके हिस्सेदारोंकी जेबमें जाता है। खादीके द्वारा उसका वितरण होता है। आना-आना

आध-आध आना उन गरीबोंको मिलेगा जो सारे देशमें फैले हुए हैं। रत्ती-रत्ती या पाई-पाईका ही फायदा क्यों न हो, लेकिन सबका होगा; जैसे वृष्टिकी बूंदें होती हैं। किसी नलकी धार कितनी ही मोटी और वेगवती क्यों न हो, वह एक ही जगह बड़े जोरसे गिरती है; सारी पृथ्वीको हरियालीसे सुशोभित करनेकी शक्ति उसमें नहीं है। वर्षा रिमझिम-रिमझिम पड़ती है, लेकिन वह सर्वत्र पड़ती है, मिट्टीके कण-कणको वह अलंकृत करती है। सूर्यका प्रकाश, हवा, वर्षा, ये सब परमात्माकी ऐसी महान् देनें हैं जो सबको मिलती हैं। खादीमें भी यही खूबी है। जो दैवी गुण, जो व्यापकता वृष्टिमें है वही खादीमें भी है।

हमारे शास्त्रकारोंने दानकी व्याख्या ही "दानं संविभागः" की है। दानका अर्थ है जो एक जगह इकट्ठा हो उसे सर्वत्र सम्यक् बांट देना। यह क्रिया खादीके द्वारा ही संपन्न होती है। महाभारतमें अर्थ-शास्त्रका एक महान नियम बताया गया है, व्यापक और सनातन अर्थ-शास्त्रके स्वरूपका वर्णन किया गया है। "दरिद्रान् भर कौन्तेय, मा प्रयच्छेश्वरे धनम्"—"जो महेश्वर है, श्रीमान् है उसे दान न दो, बल्कि जो दरिद्री है उसकी जरूरत पूरी करो।" श्रीमानोंके भरणकी जरूरत नहीं है, जो दरिद्री हैं उनके पेटके गढ़ेको पाटना है। उनको भर दो। यह सनातन सत्य है। आप जरीकी शाल या मिलका कपड़ा खरीदते हैं तो पैसा श्रीमान्की तिजोरीमें जाता है। जो गलेतक ठूंस चुका है और खा-खाकर ऊब गया है उसीको आपने फिर रबड़ी खिला दी। यह तो अधर्म हुआ, अन्याय हुआ। परंतु यदि आपने खादी खरीद ली तो वह धेला-पैसा दरिद्रनारायणके घरमें जायगा। महा-भारत और शास्त्रकार यही तो कहते हैं।

कोई-कोई कहते हैं, खादीमें कला नहीं है। उसमें तरह-तरहके रंग नहीं हैं। जो ऐसा कहते हैं वे कलाका अर्थ ही नहीं समझते। मैं भी कलाकी कद्र करनेवालोंमेंसे हूं। एक बार मैं अपने एक मित्रके घर गया। वह

मित्र पैसेवाला था। उसने पचास रुपयेमें एक सुंदर चित्र खरीदा था। उस चित्रके रंग वह मुझे दिखा रहा था। एक जगह बहुत ही सुहावना गुलाबी रंग था। उसे दिखाकर वह बोला, "कैसा सुंदर है! क्यों?" मैंने जवाब दिया, "ऊंऽऽहूंऽ"। उसने कहा, 'शायद आपको चित्रकला में रुचि नहीं है?" मैंने उससे कहा, "भलेमानस मुझे चित्रकला में खूब रुचि है। सुन्दर चित्रोंके देखनेमें मुझे अपार आनन्द आता है। लेकिन कहीं सुन्दर चित्र ही नहीं हैं! मुझे चित्रकलासे प्रेम है; उच्च चित्रकलाकी मैं कद्र करता हूं। तुम्हारी अपेक्षा मुझे चित्रकलाका ज्ञान अधिक है, मैं उसका मर्म समझता हूं। इस चित्रका वह गुलाबी रंग सुंदर है। लेकिन मैं तुमसे दूसरी ही बात कहना चाहता हूं। इस चित्रके तुमने पचास रुपये दिये। जरा हरिजनोंकी बस्तीमें जाकर देखो। वहां तुम फीके चेहरेवाले बच्चे पाओगे। रोज सबेरे वहां जाओ, पंद्रह मिनट चलना पड़ेगा। रोज एक सेर दूध लेकर जाया करो और बच्चों-को पिलाया करो। फिर एक महीने बाद उन लड़कोंके मुंह देखो। उन स्याह और फीके रंगवाले चेहरोंपर गुलाबी रंग आ जायगा। खूनकी मात्रा बढ़नेसे चेहरेपर लाली आ जायगी। अब तुम्हीं बतलाओ, इस निर्जीव चित्रमें जो गुलाबी रंग है वह श्रेष्ठ है या वह जो उन जीवित चित्रोंमें दिखाई देगा? वे बालक भी इस चित्र-जैसे सुंदर देख पड़ेंगे। मेरे भाई, ये जीवित कलाके नमूने मरते जा रहे हैं। इन निर्जीव चित्रों-को लेकर कलाके उपासक होनेकी डींग मारते हो और इस महान् दैवी कलाको मिट्टीमें मिलने देते हो!" इसी प्रकारका विचार यहां भी हो रहा है। खादीके द्वारा आप वास्तविक कलापूजक बनेंगे, क्योंकि दरिद्र-नारायणके चेहरेपर ताजगी, सुर्खी ला सकेंगे। समाजमें जो भाई मरणोन्मुख हैं उन्हें जिलाकर समाजमें दाखिल करा सकेंगे। इससे बढ़कर कला कौन-सी हो सकती है?

खादीके द्वारा द्रव्यका वितरण होता है। वह अत्यंत मोहताज, मेहनती और दरिद्र मजदूरोंको मिलता है। खादीके द्वारा कलाकी—

जीवित कलाकी उपासना होती है। ईश्वरके बनाये जीवित चित्रोंको न कोई धोता है, न पोंछता है और न सजाता है। उधर निर्जीव चित्रोंको सुंदर-सुंदर चौखटोंसे सजाते हैं, लेकिन इधर दरिद्र बालकों के शरीर पर न कपड़े हैं, न पेट में अन्न। ये दिव्य चित्र खादीके द्वारा चमकेंगे।

इतना ही नहीं, खादीमें और भी कई बातें हैं। सबसे श्रेष्ठ दान कौन-सा है ? सभी धर्मोंमें बार-बार एक ही बात कही गई है—गुप्त-दान श्रेष्ठ है। बाइबिलमें कहा है, "तुम्हारा दाहिना हाथ जो देता हो उसे बायां हाथ न जानने पाये।" सब धर्मग्रन्थोंकी यही सिखावन है। खादीके द्वारा यह गुप्तदान होता है। यही नहीं, बल्कि खुद दाता भी यह नहीं जानता कि मैं दान कर रहा हूं; और न लेनेवालेको इसका पता होता है कि मैं दान ले रहा हूं। खरीदार कहता है, मैंने खादी खरीदी। जिस गरीबको पैसे मिलते हैं वह सोचता है, मैंने अपने श्रम-का मेहनताना लिया। इसमें किसीका दबैल बननेकी जरूरत नहीं; फिर भी इसमें दान तो है ही। दान तो वही है जो किसीको दीन नहीं बनाता। दया या मेहरबानीसे हम जो देते हैं उसके कारण दूसरेकी गर्दन झुकाते हैं। समाजमें दो तरहके पाप हैं। एककी गर्दन जरूरतसे ज्यादा तनी हुई—घमंडके कारण तनी हुई, और ,दूसरेकी जरूरतसे ज्यादा झुकी हुई—दीनतासे झुकी हुई होती है। ये दोनों पाप ही हैं। एक उन्मत्त और दूसरा दबैल तथा दुर्बल। गर्दन सीधी हो और लचीली भी हो। लेकिन न तनी हुई हो, न झुकी हुई। कर्मशून्य मनुष्यको बड़ी शानसे जब हम प्रत्यक्ष दान देते हैं तब हम तो अपनी शान और मिजाजमें मस्त होते हैं और वह मंगन दीन होता है। पाप दोनों तरफ है। खादीमें गुप्तदान सिद्ध होता है। हमारे दिलमें तो दानकी भावना भी नहीं होती, फिर भी दूसरेको मदद तो पहुंचती ही है। दान देनेवाले और लेनेवालेने एक दूसरेको देखातक नहीं। लेकिन वास्तविक धर्मपर अमल हो रहा है।

आजकल हम गुप्तदानकी महिमा भूल गये हैं। यह विज्ञापनका युग है। मेरी मां मुझे वर्तमान गुप्तदानकी पोल बताया करती थी। लड्डूके अंदर चवन्नी या दुअन्नी रख दी जाती है लेकिन पंडितजीसे धीरेसे कह दिया जाता है, "जरा धीरे-धीरे चबाइए, अंदर चवन्नी है।" गुप्तदान देनेके लिए लड्डूमें चवन्नी रख दी जाती है, लेकिन अगर पंडितजीको सतर्क न किया जाय तो बेचारेके दांतोंपर आफत आ जाय। मतलब, फिर वह दान गुप्त तो नहीं रहेगा, किसी-न-किसी बहाने प्रकट होगा ही। आजकल समाजमें दानी लोग अपना नाम खुदवाते हैं पैसे देते और कहते हैं, "हमारा नाम दे दीजिए।" यह अधःपतन है। मुझसे एक बार एक श्रीमान् कहने लगे, "मुझे कुछ रुपये देने हैं।" मैंने कहा, "बहुत अच्छा, लाइए।" उन्होंने कहा, "उस इमारतमें मेरा नाम दे दीजिए।" मैंने जवाब दिया, "आपके रुपये मुझे नहीं चाहिए। इस प्रकारका दान लेनेमें मुझे आपकी आत्माका घोर अपमान करनेका पाप लगेगा। आप खुद अपनी आत्माका अपमान करनेपर—पाप करनेपर उतारू हो गये हैं, पर मैं उसमें हाथ बंटाना नहीं चाहता। यह पाप है और आपको यह समझाना मेरा काम है।" इसमें आत्माका कितना बड़ा अपमान है! क्या आप अपनी इच्छाओंको, अपनी अनंत आत्माको उन पत्थरोंमें कैद करना चाहते हैं? इसीलिए हमारे पूर्वजोंने गुप्तदानकी शिक्षा दी। आजकलके दान दरअसल दान ही नहीं हैं। आपने पैसे देकर इमारतपर अपना नाम खुदवाया। इसका मतलब तो यही हुआ कि आपने-अपने हाथों अपनी कब्र बनवा ली; आपने खुद अपनी बड़ाई करवा ली। इसमें दान क्या किया? गुप्तदान बहुत ही पूजनीय वस्तु है। मैंने आपसे कहा कि खादी खरीदनेमें १०) खादी-खाते और २) दानधर्म-खाते आप लिखें। यह जो सालभरमें दान-धर्म होगा वह गुप्त होगा। यह गुप्तदान देते हुए—आपको यह गर्व न होगा कि मैं बड़ा उपकार कर रहा हूं, और जिस गरीबको दो-चार आने मिलेंगे उसे भी किसीके दरवाजेपर जाकर "बाबा, एक

मुट्ठी" कहनेके बजाय, "मैं अपनी मेहनतका खाता हूं", यह अभिमान होगा। यह गुप्तदानका महान् धर्म भी खादी खरीदनेसे सिद्ध होगा। दूसरे दानोंकी जरूरत ही न रहेगी। असल में वे दान ही नहीं हैं। दान वही है जो दूसरोंको स्वाभिमान सिखाये। खादी खरीदनेमें जो मदद पहुंचेगी, जो गुप्तदान दिया जायगा उसकी बदौलत मजदूरोंको देहातमें ही काम मिलेगा, उन्हें अपना घरबार छोड़ना न पड़ेगा। देहातकी खुली हवामें वे रह सकेंगे। देहात छोड़कर शहरमें आनेपर वे कई बुरी आदतों और ऐबोंके शिकार बन जाते हैं और उनके चरित्र तथा स्वास्थ्यका नाश होता है सो न होगा। देहातियोंके शरीर और मन निरोग और निरालस रहेंगे। मतलब, खादीके द्वारा जो दान होता है, उससे समाजमें कितना कार्य हुआ यह देखना चाहिए। आदमियोंके शरीर और हृदय—उनकी शारीरिक शक्ति और चरित्र शुद्ध रखनेका श्रेष्ठ उद्देश्य खादी-द्वारा सफल होता है। इसीका नाम है बीज बोना। यही वास्तविक दान है, गुप्तदान है, संविभाग है, जीती-जागती और खेलती हुई कला निर्माण करनेवाला दान है।

"दरिद्रान् भर कौन्तेय" "दानं संविभागः", इन सूत्रोंको आप न भूलें। आपके श्रेष्ठ पूर्वजोंकी यह दान-नीति है। जो अनीति और आलसको बढ़ाता है वह दान ही नहीं है। वह तो अधर्म है। उस दानको देनेवाला और लेनेवाला दोनों पापके हिस्सेदार होते हैं। दोनों "अवसि नरक-अधिकारी" हैं इसलिए विवेककी आंख खुली रखकर दान कीजिए। यही कर्म-कुशलता है। आप दया-धर्मका पालन करते हैं। हृदयके गुणकी तो रक्षा की, लेकिन बुद्धिके गुणका नाश किया। बुद्धि और हृदयका जब बिलगाव होता है तो अनर्थ होता है। हृदय कहता है "दया करो, दान करो"; लेकिन "दया किस प्रकार करें, दान कैसे करें", यह तो बुद्धि ही सिखाती है, विचार ही बतलाता है। जहां बुद्धि और हृदयका संयोग होता है वहीं योग होता है। ज्ञान और बुद्धिकी एकताका ही नाम योग है। यही कर्म-कुशलता है। आज दान

महज एक रूढ़ि है। जब आचारमेंसे विचार निकल जाता है तो निर्जीव रूढ़ि ही बाकी रह जाती है। इसलिए विवेकयुक्त दान-धर्म सीखिए। दान-जैसी कोई स्वतंत्र चीज ही नहीं रह जानी चाहिए। इस प्रकारके गुप्तदान समाजके नित्यके व्यवहारमें हुआ करते हैं। खादीके द्वारा इसका पालन कैसे होता है, यह मैंने दिखा दिया। अगर आप इसे ठीक समझते हों तो इसपर अमल करें।

हमारा जन्म इस भारत-भूमिमें हुआ है। इस भूमिका प्रत्येक कण मेरे लिए पवित्र है। सैकड़ों श्रेष्ठ साधु-संत इस भूमिमें उत्पन्न हुए और लोगोंको जगाते हुए विचरते रहे। इस धूलिको उनके चरणोंका स्पर्श हुआ होगा। जी चाहता है कि इस धूलिमें खूब लोटूं। "दुर्लभं भारते जन्म"। मेरे अहोभाग्य हैं कि मैं इस भूमिमें पैदा हुआ। "मैं इस भारतवर्षमें उत्पन्न हुआ", इस विचारसे ही कभी-कभी मेरी आखोंसे आंसुओंकी धारा बहने लगती है। आप ऐसी श्रेष्ठ भूमिकी संतान हैं। आप अपने-आपको धन्य मानें। आज जरा बुरे दिन आ गये हैं। क्लेश, कष्ट, अपमान सहने पड़ते हैं। लेकिन इस विपत्तिमें धीरज देनेवाला विचार भी तो पास ही है। हम सब आशासे काम करें, विवेकपूर्ण कर्म करें, अपने जीवनमें दर्शनका प्रवेश करें। मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही इस देशके अच्छे दिन आयेंगे। लेकिन जरूरत है सुंदर कृतिकी। वही कीजिए।

: ३० :

श्रमदेवकी उपासना

मनुष्यको प्रायः बाह्य अनुकरणकी आदत रहती है। आकाशके तारोंको देखकर जी ललचाता है, इसलिए हम अपने मंदिरोंमें कांचकी हांडियां और झाड़-फानूस टांगते हैं। आकाशके नक्षत्र तो आनंद देते हैं, पर ये हांडियां और झाड़ तो घरके अंदरकी स्वच्छ वायुको जलाते हैं। चार महीनेकी वर्षाके बाद धुले हुए आकाशके अनगिनित नक्षत्रोंको देखकर हमने दिवाली मनाना शुरू किया; छुटपनमें हम एक वृक्षके फलमें नारियलका तेल डालकर दिये जलाते थे। अब तो देहातमें भी भयानक धुआं उगलनेवाले मिट्टीके तेलके दिये जलाये जाते हैं। इसी तरह देहातमें हम कांग्रेसकी नकल उतारते हैं। आरंभ संगीतसे करते हैं; चाहे लोग उसे समझें न। यह फलाना गेट, वह ढिमाका गेट, ऐसे दरवाजोंके नाम भी रख लेते हैं। लेकिन अनुकरण अंदरसे होना चाहिए।

मेरा मतलब यह है कि कांग्रेसमें राष्ट्रका वैभव नजर आना चाहिए, लेकिन खादी-यात्राके द्वारा तो उसका वैराग्य ही प्रकट होना चाहिए। हिमालयसे निकलनेवाली गंगा गंगोत्रीके पास छोटी और शुद्ध है। प्रयागकी गंगामें नदियां, नाले और नालियां मिलकर वह वैभवशालिनी बन गई है। दोनों स्थानोंमें वही पवित्र गंगाजी है। लेकिन गंगोत्रीकी गंगा यदि प्रयागकी गंगाके अनुकरणका दम भरे तो प्रयागकी विशालता उसे प्राप्त होनेके बजाय वह अस्वच्छ, अशुद्ध हो जायगी। कांग्रेसके समान बड़े-बड़े सम्मेलनोंमें राष्ट्रका वैभव और सिद्धि प्रकट होती है। छोटी-सी खादी-यात्रामें वैराग्य और शुद्धिके दर्शन होने चाहिए। हम चाहे कितनी

ही कोशिश क्यों न करें, कांग्रेसका वैभव देहातमें नहीं ला सकते। वहां तो देहातियोंके दिलकी ताकत और देहाती जीवट ही प्रकट होना चाहिए।

हम खादी-यात्रामें क्यों एकत्र होते हैं ? व्याख्यान, खेल-कूद, राष्ट्र-गीतके लिए नहीं। चाहे जिस तीर्थ-स्थानको ले लीजिए। तीर्थ-स्थानमें मेला लगता है। और भी हजारों चीजें होती हैं। लेकिन यात्री वहां किसलिए जाते हैं ? देव-दर्शनके लिए। कोई कहेगा, उस पत्थरमें क्या धरा है जी ! लेकिन तीर्थ-यात्रीके लिए वह पत्थर नहीं है। उमरेड़ (नागपुरके पासकी एक तहसील)के पास रहनेवाला एक अछूत लड़का पंढरपुर जाता है। उसे कोई मंदिरमें जाने भी नहीं देता। लेकिन वह तो वहां देवताके दर्शनोंके लिए ही गया; हम उसे पागल भले ही कहें। पंढरपुरके देवतासे कोई मतलब नहीं है। लेकिन वहां जो मेला लगता है उससे लाभ उठानेके लिए वहां हम उस मौकेपर खादी-ग्रामोद्योगकी प्रदर्शनीका आयोजन करते हैं। पर हमारा उद्देश्य सफल नहीं होता। चाहे शुद्ध उद्देश्यसे ही क्यों न हो, लेकिन यदि जनताको फांसना ही है तो कम-से-कम मैं तो उसे सीधे अपना मतलब बताकर फांसूंगा। खादी ग्रामोद्योगका स्वतंत्र मंदिर हम क्यों नहीं बना सकते ? दूसरे मेलोंसे लाभ उठानेकी जरूरत हमें क्यों पड़ती है ?

खादी-यात्रामें हम खादी, ग्रामोद्योग और अहिंसाके प्रेमी क्यों एकत्र होते हैं ? मुझ-जैसे कई ऐसे आदमी भी होंगे जिन्हें दो दिन रहनेकी फुरसत भी न हो। वे यहां किस खास चीजके लिए आयें ? मेरा उत्तर है—सब मिलकर एकत्र कातनेके लिए। परिश्रम हमारा देवता है, उसके दर्शनोंके लिए। मेरी इच्छा गांधी-सेवा-संघके सम्मेलनमें जानेकी थी। सिर्फ इसलिए कि वहां सामुदायिक शरीर-श्रमका कार्यक्रम होता है। खादी-यात्रामें यह गद्दी किसलिए ? खादी और गादी (गद्दी)की लड़ाई है। अगर इस लड़ाईमें गादीकी जीत होनेवाली हो तो हमको खादी छोड़ देनी चाहिए। दुबले-पतले, कमजोर आदमियों और बूढ़ोंके

लिए गादीका उपयोग भले ही होता रहे। हमें तो जमीन लीप-पोतकर मुख्य कार्यक्रम करना चाहिए। दूसरे ही कार्यक्रम होने लगें तो यह तो ऐसा ही हुआ कि कोई किसान हमारे घर मेहमान आये, हम सुंदर चौक पूरकर उसके सामने तरह-तरहकी चटनी और अचारोंके ढेर लगाकर थाली लगायें, लेकिन उसमें रोटी रखें केवल दो तोले ! वह बेचारा कहेगा कि मेरा इस तरह मजाक क्यों उड़ाते हो, भाई ? इसी प्रकार देहाती कहेंगे, हम यहां मजदूरी करनेके लिए आते हैं। क्या आप लोग हमारे साथ मजाक करने आते हैं।

दूसरे लोग हमसे पूछते हैं, तुम्हारा धर्म कैसा है ? श्रीकृष्णकी लोग जय बोलते हैं। लेकिन सौ में निन्यानबे लोग गीताका नामतक नहीं जानते। मुझे इसका इतना दुःख नहीं है। गोपालकृष्णका नाम तो सब लोग जानते हैं न ? उनकी जीवनी तो सब जानते हैं न ? कृष्णकी महत्ता इसलिए नहीं है कि उन्होंने गीताका गायन किया। वह तो उनके जीवनके कारण हैं। द्वारकाधीश होनेके बाद भी सारा राज-काज संभाल कर श्रीकृष्ण कभी-कभी ग्वालोंके साथ रहने आया करते थे। गायें चराते थे, गोबर उठाते थे। उन्हें इस सारे कामसे क्या प्रेम था, इसीलिए आज भी लोगोंके दिलमें उनके लिए इतना प्रेम है और वे उनका स्मरण करते हैं। परिश्रमके प्रतिनिधि बनकर भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ करते थे वह हमें अपना प्रधान कार्य समझकर करना है। इसके अलावा और जो कुछ करना चाहें कीजिए; पर अनुकरणका अभिनय न हो।

महात्माजी बिलकुल तंग आ गये हैं। अहिंसाके बलपर हमने इतनी मंजिल तय की। लेकिन अब तो हमारी सरकारको भी हिंदू-मुसलमानोंके दंगोंमें पुलिस और फौज बुलानी पड़ती है। अहिंसाके बलपर हम दंगे शांत नहीं करा सकते, यह एक तरहसे अहिंसाकी हार ही है। दुर्बलोंकी अहिंसा किस कामकी ? कोई-कोई कहते हैं, इसमें मंत्रियोंका क्या कुसूर है? मैं कहता हूं, तिनकेके बराबर भी कसूर उनका नहीं है। लेकिन आखिर मंत्री बनकर भी क्या हम यही करते रहेंगे ? अंग्रेजोंके

आनेसे पहले भी तो हम यही करते थे—जब जरूरत होती; अंग्रेजोंकी सेनाका आवाहन करते थे। तब और अबमें फिर भेद ही क्या रहा ?' गांधीके देशभक्त अनुयायी भी हमारी फौजकी शरण लेते हैं, इसकी अंग्रेजोंको कितनी खुशी हो रही होगी ? अगर बिना फौजके काम ही न चलता हो तो अपनी फौज खड़ी कीजिए। आज तो फौजमें चुन-चुनकर तामसी लोग भरती किये जाते हैं। कम-से-कम आप ऐसा तो न करेंगे। आप देशकी हालत जाननेवाले लोगोंको फौजमें भरती करेंगे।

महात्माजीने अपने दो लेखोंमें यह बात साफ करदी है कि अहिंसा वीरोंकी होनी चाहिए, दुर्बलोंकी कदापि नहीं। जब शस्त्रकी धार शरीरमें लगती है तभी वीरताकी परीक्षा होती है। आप अहिंसाका दम भरेंगे और मरनेसे डरेंगे तो ऐन मौकेपर आपको पता चलेगा कि आप कायर हैं।

कांग्रेसके ३१ लाख सदस्य बन गये हैं। लेकिन संख्याको लेकर हम क्या करें ? रोज जिन्हें एक ही जून रोटी नसीब होती है, ऐसे सब लोगों-को सदस्य बना लें तो पैंतीस करोड़ सदस्य बन जायेंगे। दोनों जून खानेवालोंको बनाना हो तो कम-से-कम चार-पांच करोड़को इनमेंसे कम कर देना पड़ेगा। सिंधियाके पास साठ हजार फौज थी। होलकरके पास चालीस हजार। लेकिन वेलजलीने पांच हजार फौजसे उनको हरा दिया क्यों ? जब वेलजलीने चढ़ाई की तो सिंधियाके दस हजार जवान पाखाने गये थे और दस हजार सो रहे थे। इस तरहके तमाशबीन किस कामके ? और फिर अहिंसाकी लड़ाईमें ऐसे आदमियोंसे तो काम नहीं चलेगा। बड़के पेड़के नीचे जो लोग आराम करने आते हैं वे उसकी छायासे लाभ उठाते हैं; लेकिन उनमेंसे कोई उसके काम नहीं आयेगा।

मंत्रि-पद स्वीकार कर लेनेसे लाभ चाहे जो हुआ हो, लेकिन एक बड़ा भारी नुकसान हुआ। लोगोंकी स्वावलबनकी हिम्मत घटी हुई-सी दीख पड़ती है। उधर वह बूढ़ा (गांधी) बिलकुल परेशान हो रहा है। संयुक्तप्रांतकी असेंबलीमें दंगोंके बारेमें बहस होती है और मुसलमानोंकी

ओरसे शिकायत आती है कि मंत्री जनताकी अच्छी तरह रक्षा नहीं कर सके ! अगर हमें हिंसाका ही मार्ग लेना था तो हमने ये अठारह साल अपने अच्छे-से-अच्छे लोगोंको अहिंसाकी शिक्षा देनेमें बितानेकी बेवकूफी क्यों की ? जर्मनी और इटलीकी तरह इन नौजवानोंको भी उत्कृष्ट फौजी शिक्षा दी गई होती ? इसलिए गांधीजी कहते हैं कि मेरा मार्ग यदि बहादुरोंके मार्गके रूपमें जंचता हो तो उसे स्वीकार करो, वरना छोड़ दो।

पौनारमें मैं मजदूरोंके साथ उठता बैठता हूं। मैंने उनसे कहा, तुम लोग अपनी मजदूरी इकट्ठी करके आपसमें बराबर-बराबर बांट लो। आपको शायद सुनकर अचरज होगा, पर मजदूरोंने कहा, "कोई हर्ज नहीं।" लेकिन इस प्रस्तावपर अमल कैसे हो ? उनसे अलग रहकर ? जब मैं भी उनमें शामिल हो जाऊंगा, तब हम सब मिलकर उसपर अमल करेंगे। आपको अपने हजार आंदोलन छोड़कर इस सच्ची राज-नीतिकी ओर ध्यान देना चाहिए। मजदूरोंकी मजदूरीकी शक्ति प्रकट होनी चाहिए। आप गरीबोंके हाथोंमें सत्ता देना चाहते हैं न ? तब तो उनके हाथोंका खूब उपयोग होने दीजिए। बचपनमें हम एक श्लोक पढ़ा करते थे 'कराग्रे वसते लक्ष्मी'—अंगुलियोंके अग्रभागमें लक्ष्मी निवास करती है। तो फिर बताइए, क्या इन अंगुलियोंका ठीक-ठीक उपयोग होना आवश्यक नहीं है ? क्या उनमें उत्तम कला-कौशल आना जरूरी नहीं है ? हम विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार कमेटी बनाते हैं। उसमें गद्दी, कलम, कागज और दूसरी हजार चीजें होती हैं। लेकिन चरखा, धुनकी नदारद। गांधी-सेवा-संघमें हर महीने हजार गज कातनेका नियम है। लेकिन शिकायत यह है कि उसका भी भली-भांति पालन नहीं होता। ये स्वराज्य प्राप्त करनेके लक्षण नहीं हैं। फिर तो आपका स्वराज्य सपनेकी चीज है। जबतक हम मजदूरोंके साथ परिश्रम करनेके लिए तैयार न होंगे तबतक उनका हमारा 'एका' कैसे होगा ? जबतक हम उनमें घुल-मिल न जायं, तबतक हमारी अहिंसाकी शक्ति प्रकट न होगी।

कताईकी मजदूरीकी दर बढ़ाई जानेवाली है, इससे कुछ लोगोंको शिकायत है। कुछ लोग कहते हैं कि मजदूरी चाहे जितनी बढ़ाइए लेकिन खादी सस्ती रहे। अब इस दलीलके सामने अर्थ-शास्त्र क्या अपना सिर पीटे ? कताईकी दर बढ़ाकर खादी सस्ती कैसे करें ? शायद इसका भी मेल बैठानेमें सफलता मिल जाय। लेकिन उसके लिए यंत्र, तोप, हवाई जहाज आदिकी सहायता लेनी पड़ेगी। शहरमें रहनेवाले जमनालालजी यदि कहें कि खादी सस्ती मिलनी चाहिए, तो भले ही कहें, मगर देहातके लोग भी जब यही कहने लगते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। आप कहते हैं कि मजदूरोंको जिंदा रहनेके लायक सुविधा हो। अंग्रेज भी तो दिलोजानसे यही चाहते हैं कि हम जियें और जन्म-भर उनकी मजदूरी करें।

खादीका व्यवस्थापक यदि २०) वेतन लेता है तो त्यागी समझा जाता है। उसे निजी कामके लिए या बीमारीके कारण सवेतन छुट्टी मिल सकती है। लेकिन उसके मातहत काम करनेवालेको केवल डेढ़ आने मजदूरी मिलती है। निजी कामके लिए या बीमारीकी छुट्टियां नदारद। हां, बिना वेतनके चाहे जितनी छुट्टियां लेनेकी सुविधा है। इन बेचारे मजदूरोंको अगर खादी-यात्रामें आना हो तो अपनी रोजीका त्याग करके आना पड़ता है और इसके अलावा यहांका खर्च भी देना पड़ता है। शायद तुलना कड़वी लगे। लेकिन कड़वे-मीठेका सवाल नहीं है; सवाल तो है सच और झूठका।

कुछ लोग कहते हैं, समाजवादियोंने मजदूरोंको फुसलाकर अपने पक्षमें कर लिया है, इसलिए हमें मजदूरोंमें जाकर उन्हें समाजवादियोंके चंगुलसे छुड़ाना चाहिए। लेकिन आप मजदूरोंमें किस ढंगसे प्रवेश करना चाहते हैं ? अगर अहिंसक ढंगसे उनमें शामिल होना है तब तो व्यवस्थापक और मजदूरमें आज जो अंतर है वह घटता ही जाना चाहिए। व्यवस्थापकोंको मजदूरोंके समान बनना चाहिए। मजदूरोंका वेतन बढ़ाना चाहिए। "मजदूरोंका वेतन बढ़ाकर उनका और एक विशेष

वर्ग तुम निर्माण करोगे'', ऐसा आक्षेप भी कुछ लोग करते हैं। तो फिर मुझपर यह भी आक्षेप क्यों न किया जाय कि मैं देशकी सेवा करनेवाले देश-सेवकोंका ही एक खास वर्ग बनाने जा रहा हूं ? मजदूरीकी दर बढ़ाये बिना मैं मजदूरोंके साथ एकरूप किस तरह हो सकता हूं? उनका और मेरा 'एका' कैसे हो सकता है ?

किशोरलाल भाईका आग्रह था कि शिक्षकोंको कम-से-कम २५) मासिक वेतन मिलना चाहिए। पौनारके मास्टरोंको १६) माहवार मिलता है। मजदूरोंको उनसे ईर्ष्या होती है। तीन साल पहले मेरे प्राण-पखेरू उड़ चुके थे, सो कताईके भाव बढ़ते ही फिर इस शरीरमें लौट आये। बेचारोंको दस-दस घंटे मेहनत करनी पड़ती है, तब कहीं बड़ी मुश्किलसे चार आने पैसे मिलते हैं। और यहां तो कम-से-कम खर्च छः आनेका है। भला बताइए, मैं उनमें कैसे शामिल हो सकता हूं ?

आज तो श्रमकी प्रतिष्ठा केवल वाङ्मय—साहित्य—में है। इससे कोई फायदा नहीं। श्रमका अधिक मूल्य देना ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा बढ़ाना है और इसका आरंभ हम आप सबको मिलकर करना है।

यहां इतने खादीधारी आते हैं, लेकिन सब अपना-अपना चरखा या तकली नहीं लाते। यहां तकली भूलकर आना, मानों नाईका अपना उस्तरा भूल आना है ! हम यहां खिलवाड़के लिए नहीं आते। हमारी खादी-यात्रामें वैराग्यका वैभव और श्रमकी शक्ति प्रकट होनी चाहिए।

: ३१ :

राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र

आजतक खादीका कार्य हमने श्रद्धासे किया है। अब श्रद्धाके साथ-साथ विचारपूर्वक करनेका समय आ गया है। खादीवाले ही यह समय लाये हैं, क्योंकि उन्होंने ही खादी की दर बढ़ाई है।

सन् १९२०से हमने सत्रह आने गज खादी खरीदी थी मगर सस्ती करनेके इरादेसे दर कम करते-करते चार आने गज पड़ने लगी। चारों ओर "यंत्र-युग" होनेके कारण कार्यकर्त्ताओंने मिलके भाव दृष्टिमें रखकर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया। इस हेतुकी सिद्धिके लिए जहां गरीबी थी उन स्थानोंमें कम-से-कम मजदूरी देकर खादी-उत्पत्तिका कार्य चलाना पड़ा। लेनेवालोंने भी ऐसी खादी इसलिए ली कि वह सस्ती थी। मध्यमवर्गके लोग कहने लगे—अब खादीका इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि उसके भाव मिलके कपड़ेके बराबर हो गये हैं; वह टिकाऊ भी काफी है और महंगी भी नहीं है। अर्थात्, 'थुड़मुली और घनदुधी' इस कहावतके अनुसार खादी-रूपी गाय लोगोंको चाहिए थी। उन्हें वह वैसी मिल गई और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके हम महान् देश-सेवा कर रहे हैं।

यह बात तो गांधीजीने सामने रखी है कि अब मजदूरोंको अधिक मजदूरी दी जाय, उन्हें रोजाना आठ आने मिलने चाहिए। क्या यह भी लालबुझक्कड़की बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गई है? या उनके कहनेमें कुछ सार भी है? इसपर हमें विचार करना चाहिए। हम अभी साठके अंदर ही हैं, संसारसे अभी ऊब नहीं गये हैं, दुनियामें अभी

हमें रहना है। यदि ये विचार हमें नहीं जंचते तो यह समझकर हम इन्हें छोड़ सकते हैं कि यह खब्ती लोगोंकी सनक है। सच बात तो यह है कि जबसे खादीकी मजदूरी बढ़ी तबसे मुझमें मानो नई जान आ गई। पहले भी मैं यही काम करता था। मैं व्यवस्थित कातनेवाला हूं। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काममें लाता हूं। कातते समय मेरा सूत टूटता नहीं, यह आपने अभी देखा ही है। मैं श्रद्धापूर्वक, ध्यानपूर्वक कातता हूं। आठ घंटे इस तरह काम करनेपर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पड़ती थी। रीढ़में दर्द होने लगता था। लगातार आठ घंटे काम करता था, मौनपूर्वक कातता था, एकबार पालथी जमाई कि चार घंटे उसी आसनमें कातता रहता। तो भी मैं सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे राष्ट्रमें इसका प्रचार कैसे हो, इसका विचार मैं करता था। यह मजदूरी बढ़ गई इससे मुझे आनंद हुआ, कारण मैं भी एक मजदूर ही हूं। "घायलकी गति घायल जाने"

मेरे हाथके सूतकी धोती पांच रुपयेकी हो, तब भी धनी लोग बारह रुपयेमें खरीदनेको तैयार हैं। कहते हैं, "यह आपके सूतकी है, इसलिए हम इसे लेते है।" ऐसा क्यों? मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि हूं। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हें भी दो। ऐसी परिस्थितिमें मुझे यही चिंता हो गई कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी। अब मेरी यह चिंता दूर हो गई है। पहले कातनेवाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिंता पहननेवालोंको मालूम हो रही है।

संसारमें तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं—(१) काश्तकार, (२) दूसरे धंधे करनेवाले और (३) कुछ भी धंधा न करनेवाले, जैसे बूढ़े, रोगी, बच्चे, बेकार वगैरह। अर्थशास्त्रका—सच्चे अर्थशास्त्रका यह नियम है कि इन तीनों वर्गोंमें जो ईमानदार हैं उन सबको पेटभर अन्न, वस्त्र और आश्रयकी आवश्यक सुविधा होनी ही चाहिए। कुटुंब भी इसी तत्त्वपर चलता है। जैसा कुटुंबमें वैसा ही समस्त राष्ट्रमें होना चाहिए। इसीका नाम है "राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र"—"सच्चा अर्थ-शास्त्र"।

इस अर्थ-शास्त्रमें सब ईमानदार आदमियोंके लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए। आलसी याने गैर-ईमानदार लोगोंके पोषणका भार राष्ट्रके ऊपर नहीं हो सकता।

इंग्लैंड-सरीखे देशोंमें (जो यंत्र-सामग्रीसे संपन्न हैं) दूसरे देशोंकी संपत्ति बहकर आती है, सब बाजार खुले हुए हैं, नाना प्रकारकी सुविधाएं प्राप्त हैं तो भी वहां बेकारी है। ऐसा क्यों? इसका कारण है यंत्र। इस बेकारीके कारण प्रति सप्ताह बेकारोंको भिक्षा (डोल) देनी पड़ती है। ऐसे २०-२५ लाख बेकारोंको मजदूरी न देकर अन्न देना पड़ता है। आप कहते हैं कि भिखारियोंको काम किए बगैर अन्न न दो, पर वहां अन्नदानका रिवाज चालू है। इन लोगोंको काम दीजिए। इन्हें काम देना कर्त्तव्य है। 'काम दो, नहीं तो खानेको दो' यह नीति इंग्लैंडमें है तो सारे संसारमें क्यों न हो? यहां भी उसे लागू कीजिए। पर यहां लागू करनेपर काम न देकर १॥ करोड़ लोगोंको अन्न देना पड़ेगा। यहां कम-से-कम १॥ करोड़ मनुष्य ऐसे निकलेंगे। यह मैं हिसाब देखकर कह रहा हूं। इतने लोगोंको अन्न कैसे दिया जा सकेगा? नहीं दिया जा सकता—मनमें ठान लिया जाय, तो भी नहीं दिया जा सकता। उधर चूंकि इंग्लैंडवाले दूसरे देशोंकी संपत्ति लूट लाते हैं, इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारीसे राज करना हो तो ऐसा करना संभव नहीं हो सकता।

हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश है, तो भी यहां ऐसा कोई धंधा नहीं जो कृषिके साथ-साथ किया जा सके। जिस देशमें केवल खेती होती है वह राष्ट्र दुर्बल समझा जाता है। यहां हिंदुस्तानमें तो ७५ प्रतिशतसे भी ज्यादा काश्तकार हैं। यहांकी जमीनपर कम-से-कम दस हजार बरससे काश्तकी जाती है। अमेरिका हिंदुस्तानसे तिगुना बड़ा मुल्क है, पर आबादी वहांकी सिर्फ १२ करोड़ है। जमीनकी काश्त केवल ४०० वर्ष पूर्वसे ही हो रही है, इसलिए वहांकी जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्रके काश्तकारोंके हाथमें और भी

धंधे दिये जायं तभी वह सम्हल सकेगा। काश्तकार, यानी (१) खेती करनेवाला, (२) गोपालन करनेवाला और (३) धुनकर कातनेवाला। काश्तकारकी यह व्याख्या की जाय तभी हिंदुस्तानमें काश्तकारी टिक सकेगी।

सारांश, यह वर्त्तमान परिपाटी बदलनी ही पड़ेगी। बहुत लोग दुःख प्रकट करते हैं कि खादीका प्रचार जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। इसमें दुःख नहीं आनंद है। खादी बीड़ीके बंडल अथवा लिप्टन-की चाय नहीं है। खादी एक विचार है। आग लगानेको कहें तो देर नहीं लगती, पर यदि गांव बसानेको कहें तो इसमें कितना समय लगेगा, इसका भी विचार कीजिए। खादी निर्माणका काम है, विध्वंस-का नहीं। यह विचार अंग्रेजोंके विचारका शत्रु है। तब खादीकी प्रगति धीमी है, इसका दुःख नहीं, यह तो सद्भाग्य ही है। पहले अपना राज था तब खादी थी ही; पर उस खादीमें और आजकी खादीमें अंतर है। आजकी खादीमें जो विचार है वह उस समय नहीं था। आज हम खादी पहनते हैं इसके क्या मानी हैं, यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आजकी खादीका अर्थ है सारे संसारमें चलते हुए प्रवाहके विरुद्ध जाना। यह पानीके प्रवाहके ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह—प्रतिकूल समय जीत सकेंगे। तभी खादी आगे बढ़ सकेगी। "इस प्रतिकूल समयका संहार करनेवाली मैं हूं", यह वह कह सकेगी। "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः", ऐसा अपना विराट् रूप वह दिखलायेगी। इसलिए खादीकी यदि मिलके कपड़ेसे तुलना की गई तो समझ लीजिए कि वह मिट गई—मर गई। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मैं मिलकी तुलनामें सस्ती नहीं, महंगी हूं। मैं बड़े मोलकी हूं। जो-जो विचारशील मनुष्य हैं, मैं उन्हें अलंकृत करती हूं। मैं सिर्फ शरीर ढांपने-भरको नहीं आई; मैं तो आपका मन हरण करने आई हूं।" ऐसी खादी यकायक कैसे प्रसूत होगी? वह धीरे-धीरे ही आगे जायगी और जायगी तो पक्के तौरसे

जायगी। खादीके प्रचलित विचारोंकी विरोधिनी होनेके कारण उसे पहननेवालोंकी गणना पागलोंमें होगी।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बताये हैं—काश्तकार, अन्य धंधा करनेवाले और जिनके पास धंधा नहीं—उन सभी ईमानदार मनुष्योंको हमें अन्न देना है। इसे करनेके लिए तीन शर्तें हैं। एक तो सर्वप्रथम काश्तकारकी व्याख्या बदलिए। (१) खेती, (२) गो-रक्षण और (३)कातनेका काम करनेवाले, ये सब काश्तकार हैं—काश्तकारकी ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, बैल, गाय, दूध इन वस्तुओंके विषयमें काश्तकारको स्वावलंबी होना चाहिए। यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त यह है कि जो वस्तुएं काश्तकार तैयार करें वे सब दूसरोंको महंगी खरीदनी चाहिएं। तीसरी बात यह कि इनके सिवाय बाकीकी चीजें, जो काश्तकारको लेनी हों, वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, दूध ये वस्तुएं महंगी, पर घड़ी गिलास-जैसी वस्तुएं सस्ती होनी चाहिएं। वास्तवमें दूध महंगा होना चाहिए जो है सस्ता, और गिलास सस्ते होने चाहिएं जो हैं महंगे। यह आजकी स्थिति है। आपको यह विचार रूढ़ करना चाहिए कि अच्छे-से-अच्छे गिलास सस्ते और मध्यम दूध भी महंगा होना चाहिए। इस प्रकारका अर्थ-शास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी, दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा? इने-गिने कुछ ही नौकरोंको नियमित रूपसे अच्छी तनख्वाह मिलती है, उनकी बात छोड़िए। जिस राष्ट्रमें ७९ प्रतिशत काश्तकार हों उसमें यदि ये वस्तुएं सस्ती हुईं तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा? उसे सुखी बनानेकेलिए खादी, दूध, अनाज, ये काश्तकारोंकी वस्तुएं महंगी और बाकीकी चीजें सस्ती होनी चाहिएं।

मुझसे लोग कहते हैं, "तुम्हारे ये सब विचार प्रतिगामी हैं। इस बीसवीं सदीमें तुम गांधीवाले लोग यंत्र-विरोध कर रहे हो?" पर मैं कहता हूं कि क्या आप हमारे मनकी बात जानते हैं? हम सब यंत्र-विरोधी हैं यह आपने कैसे समझ लिया? मैं कहता हूं कि हम

यंत्रवाले ही हैं। एकदम आप हमें समझ सकें यह बात इतनी सरल नहीं है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले हैं। मैं कहता हूं कि आपने यंत्रोंका आविष्कार किया है न ? हमें भी वे मान्य हैं। काश्तकारोंकी वस्तुएं छोड़कर बाकीकी वस्तुएं आप सस्ती कीजिए। अपनी यंत्रविद्या काश्तकारोंके धंधोंके अलावा दूसरे धंधोंपर चलाइए और वे सारी वस्तुएं सस्ती होने दीजिए। पर आज होता है उलटा। काश्तकारोंकी वस्तुएं सस्ती, पर इतने यंत्र होते हुए भी यंत्रकी सारी वस्तुएं महंगी ! मैं खादीवाला हूं, तो भी यह नहीं कहता कि चकमकसे आग पैदा कर लो। मुझे भी दियासलाई चाहिए। काश्तकारोंको एक पैसेमें पांच डिबिया क्यों नहीं देते ? आप कहते हैं कि हमने बिजली तैयार की और वह गांवोंको चाहिए। तो दीजिए न आध आनेमें महीने भर ! आप खुशीसे यंत्र निकालिए; पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए जैसा मैं कहता हूं। केले चार आने दर्जन होने चाहिएं और आपके यंत्रोंकी बनी वस्तुएं पैसे, दो पैसेमें मिलनी चाहिए। मक्खन दो रुपये सेर आपको काश्तकारसे खरीदना चाहिए। यदि आप कहें कि हमें यह जंचता नहीं, तो काश्तकार भी कह दें कि हम अपनी चीजें खाते हैं, हमारे खानेके बाद बचेंगी तो आपको देंगे। मुझे बताइए, कौन-सा काश्तकार इसका विरोध करेगा ?

इसलिए यह खादीका विचार समझ लेना चाहिए। बहुतोंके सामने यह समस्या है कि खादी महंगी हुई तो क्या होगा ? पर किनका ? किसानोंको खादी खरीदनी नहीं, बेचनी है। इसलिए उनकेलिए खादी महंगी नहीं, वह उन्हें दूसरोंको महंगी बेचनी है।

: ३२ :

'वृक्षशाखा'-न्याय

मेरा यह बराबर अनुभव रहा है कि शहरातियोंकी अपेक्षा देहाती अधिक बुद्धिमान होते हैं। शहराती जड़ हैं। जड़ संपत्तिकी सोहबतसे जड़ बन गये हैं।

मैं आज देहातोंकी जागृतिके बारेमें दो शब्द कहूंगा। आजकल किसानोंके संगठनकेलिए किसान-सभाएं कायम की जा रही हैं। लोग मुझसे पूछते हैं, "किसान-सभाएं बन रही हैं, यह देखकर तुम्हें कैसा लगता है?" मैं कहता हूं, "क्या मैं इतना जड़ हूं कि किसान-सभाओं-की स्थापनासे खुश न होऊं?" किसान-सभाएं बननी चाहिएं और गांव-गांवमें बननी चाहिएं। लेकिन इसके संबंधमें दो बातोंपर ध्यान देना चाहिए। डाली जबतक पेड़से जुड़ी रहेगी तभीतक उसे पोषण मिलेगा। अलग होते ही वह तो सूख ही जायगी, साथ ही पेड़को भी नुकसान पहुंचायेगी। पचास साल पहले लगाये हुए जिस वृक्षकी छायामें यह सभा हो रही है उसे छोड़कर किसान-सभाएं यदि अलग हो जायं तो इससे उनका नुकसान तो होगा ही, साथ ही पेड़की भी हानि होगी। इसलिए किसानोंका सारा संगठन कांग्रेससे अविरुद्ध ही होना चाहिए। 'कांग्रेसके अनुकूल'से यह मतलब नहीं है कि वे सिर्फ अपने नाममें कहीं 'कांग्रेस' शब्द लगा दें। आजकल 'स्वराज्य' शब्दका महत्त्व है। इस-लिए कई संस्थाएं उसे अपने नामके साथ जोड़ती हैं—जैसे 'वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ'। मेरा मतलब इस तरहकी अनुकूलतासे नहीं है। 'कांग्रेस-के अनुकूल'से मतलब यह है कि उनकी वृत्ति और दृष्टि अपने आंदो-

उनमें कांग्रेसकी शक्ति बढ़ानेकी होनी चाहिए।

कांग्रेसके हाथोंमें राज-शक्ति आ गई है, इसका क्या अर्थ है? दहीमेंसे सारा मक्खन निकाल लेनेपर सरकारने मट्ठेका चौथाई हिस्सा हमारेलिए रख दिया है। यही चार आना मट्ठा ग्यारहों प्रांतमें बांट दिया गया है। उनमेंसे हमारी हुकूमत सात प्रांतोंमें है। यानी ढाई आने मट्ठा हमारे पल्ले पड़ा है। आप पूछेंगे कि फिर हमने यह स्थिति क्यों मंजूर की? मेरा जवाब है, "पच्चर लगानेके लिए।" भारतके बड़े-बड़े नेताओंने निश्चय किया कि ब्रिटिश-सत्ताकी धरनमें यह जो जरा-सी दरार पड़ गई है उसमें पच्चर लगा दी जाये। अगर इस उद्योगमें पच्चरके ही टूट जानेका अंदेशा होता तो यह स्थिति कदापि स्वीकार न की गई होती। लेकिन उन्हें विश्वास है कि उनकी पच्चर फौलादकी बनी हुई है। पर याद रहे, केवल पच्चर लगा देनेसे ही काम नहीं चलता। उसपर घनकी चोटें भी मारनी पड़ती हैं। हमारे आंदोलन उस पच्चरपर लगाई जानेवाली चोटें हैं।

इसलिए हमें आंदोलन बड़ी कुशलतासे करना चाहिए। जिन्हें हमने अपना मत देकर भेजा है उनके काममें हमारे आंदोलनसे मदद ही पहुंचे, इसकी सावधानी हमें रखनी चाहिए। हमारी मांगें ऐसी हों और ऐसे ढंगसे पेश की जायें कि हमारे प्रतिनिधि सोने तो न पायें, लेकिन उनका बल भी किसी तरह कम न होने पाये।

मैं क्रोधी आदमी हूं। क्रोधी और सच्चे आदमीकी जीभ अक्सर खुजलाती रहती है। तुकारामका यही हाल था। उन्होंने "मेरा तो मुंह खुजलाता है" कहकर भगवान्को खूब खरी-खरी बातें सुनाईं। मैं यह नहीं कहता कि किसान-सभावाले कम जोरसे बोलें, लेकिन तुकारामके समान उनका जोर प्रेमका हो। तब उनका जोर उनके प्रेमका लक्षण माना जायगा। बिना प्रेमका जोर दिखानेका परिणाम यह होगा कि जिनसे हम सब एक होकर लड़ना चाहते हैं वे तो सुरक्षित रहेंगे और जिन्हें हमने चुनकर भेजा है। उनसे हम लड़ते रहेंगे।

लगन चाहे कितनी ही हो, लेकिन अगर बुद्धि चली गई तो सब-कुछ चला गया। बोलनेमें हमेशा विवेक रहे। हम जो-कुछ कहें उसके सबूत और अंक पेश करें। स्वराज्य लड्डू तो है, लेकिन मेथीका लड्डू है। उसमें जिम्मेदारीका कडुआपन है। हम स्वराज्य क्यों चाहते हैं? इसलिए कि अड़चनोंको दूर करनेमें अपनी बुद्धि लगानेका मौका हमें मिले। आज हमें कुछ भी नहीं करना पड़ता, इसलिए हम जड़ हो गये हैं। कल अंग्रेज यहांसे अपनी फौज हटा लें तो हम मुसीबतमें पड़ जायेंगे; लेकिन हम यह चाहते हैं, क्योंकि उस हालतमें हमें अपनी अक्ल लगानेका मौका मिलेगा। हमें जो 'मंड़गिल' भात दिया जा रहा है वह हम नहीं चाहते। हमें तो जरा करारी रोटी चाहिए? बुद्धिमत्ताके जो-जो क्षेत्र आज हमारेलिए बिलकुल बंद हैं वे थोड़े-बहुत खोल दिये गए हैं। इसलिए स्वराज्यकी जिम्मेदारीका खयाल रखकर किसानोंको अपने आंदोलन सोच-विचारकर समझदारीके साथ चलाने चाहिएं। अपने मुंहसे निकलनेवाले शब्दोंको उन्हें तौल-तौलकर कहना चाहिए। "ब्रह्म-वाक्य"के समान "किसान-वाक्य" भी भाषाका मुहावरा बन जाना चाहिए। सबका यह विश्वास हो जाना चाहिए कि किसानोंका वाक्य कभी असत्य या गैर-जिम्मेदार हो ही नहीं सकता। आज भी सरकारका हाथ कम मजबूत नहीं है, वह खासा मजबूत है। लेकिन उसे पकड़नेकी हिम्मत हमने लोगोंके बलपर की है। इसलिए लोगोंके आंदोलन जोशसे भरे हुए, उत्साह-वर्धक, किंतु प्रेमयुक्त और विवेक तथा सत्यके अनुकूल और अपने प्रतिनिधियोंकी ताकत बढ़ानेकी दृष्टिसे होने चाहिएं।

समर्थ रामदासने कहा था कि आंदोलनमें सामर्थ्य है। लेकिन हम समझ बैठे हैं कि केवल बकवासमें ही बल है। आजकलकी हमारी सभाएं निरी बकवास होती हैं। एक समय था जब कांग्रेस सरकारके सामने केवल शिकायतें पेश करनेवाली संस्था थी। उस समय वह भी शोभा देता था।

जिमि बालक करि तोतरि बाता।
सुनहिं मुदित मन पित अरु माता ॥

लेकिन बड़े होनेपर ? चालीस सालके बाद भी अगर हम फिर 'यह दीजिए', 'वह दीजिए', 'यह नहीं हुआ', 'वह नहीं हुआ', आदि शिकायतें सरकारके सामने पेश करते रहें, तो तब और अबकी हालतमें अंतर ही क्या रहा ? 'यह दीजिए', 'वह दीजिए'—लेकिन 'दीजिए' कहांसे ? असली शक्ति तो ग्राम-संगठन है। जनताकी शक्ति बढ़नी चाहिए। रो-धोकर भीख मांगनेसे थोड़े ही वह बढ़ेगी ? हिंदुस्तानकी आर्थिक तबाही अंग्रेजोंके व्यापारके कारण हुई है। जबतक देहातकी शक्ति नहीं बढ़ेगी, हिंदुस्तान संपन्न कैसे होगा ? 'लगान माफ करो, लगान माफ करो', कहकर अपने दुखड़े रोनेसे क्या होगा ? कांग्रेसकी बदौलत हमें आंदोलन करनेकेलिए आधार, आश्वासन और सुयोग प्राप्त हुआ है। इससे अधिक कुछ नहीं हुआ है। लेकिन हम तो यही समझने लगे हैं कि जैसे हम मंजिलपर ही पहुंच गये हों ! बनचराई माफ हो गई, राजाजीको खादीकेलिए दो लाख रुपये मिल गये। हमने समझा बस -अब तो मंजिल आ ही गई। इसको मैं बकवास कहता हूं। खादीकेलिए दो लाख ! अजी, दो सौ करोड़ भी काफी न होंगे। सारे देशको हमें खादीमय बनाना है। दो लाखसे क्या होता है ? लेकिन यह काम कोई भी सरकार नहीं कर सकती। यह तो जनताको ही करना चाहिए।

हमारे देहाती भाई शहरातियोंसे अच्छी तरह लड़ते भी तो नहीं। देहाती चीजोंके भाव बहुत गिर गये हैं। शहरी चीजें महंगी बिकती हैं। देहातियोंको चाहिए कि वे शहराती दूकानदारसे कहें, "घड़ीके दाम बीस रुपये बताते हो, दो रुपयेमें दे दो। मेरा मक्खन छः आने सेर मांगते हो तीन रुपये सेर दूंगा। इसके लिए मुझे इतनी मेहनत और खर्च जो करना पड़ा है।

देहातोंको सहयोगसे पूंजी जुटाकर भांति-भांतिके उद्योग शुरू करने चाहिएं। इसकेलिए कोई रुकावट नहीं है। सरकारसे आपको उचित

संरक्षण मिल सकता है। यदि हम ऐसा कुछ करेंगे तो हमारी हलचलें 'आंदोलन'के नामकी अधिकारिणी होंगी। वरना सारी हलचलें निरी बकवास और हड़बड़ाहट ही सिद्ध होंगी। हरएक गांवको एक छोटा-सा राष्ट्र समझकर वहांकी संपत्ति बढ़ानेका सामुदायिक दृष्टिसे विचार होना चाहिए। गांवके आयात और निर्यातपर गांवकी चुंगी होनी चाहिए। जब हम ऐसा करेंगे तभी हम अपनी सरकारको बल प्रदान कर सकेंगे, वरना हमारे आंदोलन फिजूल हैं।

: ३३ :

राजनीति या स्वराज्य-नीति

एक भिखारी सपनेमें राजगद्दीपर बैठा। उसे यह कठिनाई हुई कि अब राज कैसे चलाऊं? बेचारा सोचने लगा, "प्रधानमंत्रीसे मैं क्या कहूं? सेनापति मेरी कैसे सुनेगा?" आखिर भिखारीका ही तो दिमाग ठहरा। वह कोई निर्णय न कर सकता था। कुछ देरके बाद उसकी नींद ही खुल गई और सारे प्रश्न हल हो गये।

हमारे साथ भी ऐसा ही कुछ होने जा रहा है। यह मानकर कि हिंदुस्तानको स्वराज्य मिल चुका है, लोगोंने विचार करना शुरू कर दिया। उन्हें एकदम विश्वरूप-दर्शन हो गया। "बाह्य आक्रमणका क्या करें, भीतरी बगावत और अराजकताका सामना कैसे करें?" एकने कहा, "हिंसा किसी काम नहीं आयेगी।" दूसरेने कहा "अहिंसाकेलिए हमारी तैयारी नहीं है।" तीसरा बोल उठा, "कुछ अहिंसा, कुछ हिंसा, जो कुछ बन पड़ेगा, करेंगे। फिलहाल हम गांधीजीको मुक्त कर देंगे। सरकारके साथ तो हमारा अहिंसात्मक असहयोग है ही, लेकिन देखा जायगा। अगर ईश्वरकी कृपासे सरकारके दिलमें सुबुद्धि उपजी और उसने स्वराज्यका शब्दोदक (दानका शाब्दिक संकल्प) हमारे हाथमें दे दिया तो हम उसके युद्ध-यंत्रकी सहायता करेंगे। इंग्लैंडके पास शस्त्र-सामग्री है और हमारे पास जन-बल है। दोनोंको मिलानेसे बहुत-सा सवाल हल हो जायगा।" तात्पर्य यह कि हमने अभी स्वराज्य हासिल नहीं किया है, इसलिए विचारोंकी ये उलझनें पैदा हो रही हैं। अगर हमने अहिंसाकी शक्तिसे स्वराज्य प्राप्त कर लिया होता या प्राप्त करने-

वाले हों—और कार्य-समिति तो साफ-साफ कह रही है कि स्वराज्य प्राप्त करनेकेलिए हमारे पास अहिंसाके सिवा दूसरी शक्ति नहीं है—तो उसी शक्ति-द्वारा आगेकी सारी समस्याएं कैसे हल की जा सकती हैं, यह हमें सूझता या सूझेगा। आज तो श्रद्धा दृढ़ करनेका ही सवाल है। यह कदम-ब-कदम अर्थात् क्रमशः ही होता है। यही ज्ञानकी महिमा है।

लेकिन आज क्या हो रहा है? हमारे नेता गिड़गिड़ाकर सरकारसे यह विनती करते हुए देख पड़ते हैं कि "गांधीजीका त्याग करना हमारे-लिए आसान नहीं था। लेकिन इतना कठिन त्याग करके भी सहयोग-का हाथ आपकी तरफ बढ़ाया है। सरकार, हमें स्वराज्यका वचन दे दे और हमारा सहयोग ले ले।"

इस विचित्र घटनापर ज्यों-ज्यों विचार करता हूं त्यों-त्यों विचारको अधिकाधिक व्यथा होती है। मान लीलिए, सरकारने यह विनती स्वीकार कर ली और सरकारके युद्ध-यंत्रमें कांग्रेस दाखिल हो गई। तो जिस क्षण वह स्वराज्यका वचन प्राप्त करती है उसी क्षण स्वराज्यके अर्थको वह सैंकड़ों वर्ष दूर ढकेल देती है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही है।

जिसने हिंसात्मक युद्धमें योग देनेका निश्चय कर लिया उसने शुरू-शुरूमें न्याय-अन्यायका जो कुछ थोड़ा-बहुत विचार किया हो सो किया हो; लेकिन एक बार युद्ध-चक्रमें दाखिल हो जानेके बाद फिर तो न्याय-अन्यायकी अपेक्षा बलाबलका विचार ही मुख्य हो जाता है।

हिंसाका शस्त्र स्वीकार करनेके बाद बलाबलका ही विचार मुख्य है। हमारे पक्षमें अगर कुछ न्याय हो तो ठीक है, न हो तो न सही। हिंदुस्तान या दूसरा कोई भी देश अगर आजके यांत्रिक संसारकी हिंसा-में शामिल होगा तो उसे न्याय और लोकतंत्रकी भाषातक छोड़ देनी होगी।

ब्रिटेनसे आज हिंसात्मक सहयोग करनेकेलिए तैयार होनेका अर्थ

केवल अहिंसाका परित्याग ही नहीं है; बल्कि हिंसाके गहरे पानीमें एकदम उतर जाना है। "हम हिंदुस्तानके बाहर आदमी नहीं भेजेंगे", यह कहना मुमकिन नहीं; क्योंकि हिंदुस्तानके बचाव-जैसी कोई अलग चीज ही नहीं रह जाती। अफ्रीकाका किनारा, भूमध्यसागर आदि सबको हिंदुस्तानकी ही सरहदें मानना पड़ेगा। दूसरा कोई चारा नहीं है।

अर्थात्, कांग्रेसकी बीस सालकी कमाई और उसकी बदौलत संसारमें पैदा हुई आशा तो हवा हो ही गई; लेकिन साथ-साथ हिंदुस्तानकी हजारों वर्षकी कमाई भी अकारथ गई। हिंदुस्तानका जितना इतिहास ज्ञात है उसमें हिंदुस्तानी अपने देशके बाहर स्वेच्छापूर्वक संहारकेलिए गये हों, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है। यह भी संभव नहीं कि हम सिर्फ बचावकेलिए हिंसा करें, हमलेकेलिए नहीं। कोई भी मर्यादा नहीं रह सकती। 'अमर्यादा-पुरुषोत्तम' ही हमारे इष्टदेव होंगे, और हम उनकी पूर्ण उपासना करेंगे तभी सफल होंगे।

और फिर संसार भरसे दुश्मनी मोल लेनेका साहस हम किस बिरतेपर कर सकते हैं? आज जितनी दूरतक दिखाई देता है उतनेका विचार किया जाय तो यही कहना होगा कि इंग्लैण्डके बलपर। इस बातपर भी विचार करना जरूरी है। जिस राष्ट्रमें जमीनका औसत फी आदमी एक एकड़ है उस राष्ट्रकेलिए—अगर वह दूसरे राष्ट्रोंको लूटनेका खयाल छोड़ दे तो—चाहे वह कितना ही जोर क्यों न मारे, फौजपर ज्यादा खर्च करना नामुमकिन है। और सौभाग्यसे हिंदुस्तानकी आर्थिक परिस्थितिमें कितनी ही उन्नति क्यों न हो, उसकेलिए यह बात संभव भी नहीं है।

"हिंदुस्तानकेलिए बहुत बड़ी फौज रखना मुमकिन नहीं, इसलिए उसे बिना फौजका रास्ता ही आसान पड़ेगा"—यह बात जवाहरलालजी भी कभी-कभी कहा करते हैं। इस तरहका राष्ट्र स्वाश्रयी (अपने भरोसे) रहकर शस्त्र-निर्माण-कलाका प्रयोग नहीं सकता। फलतः उसे पराश्रित होकर (दूसरोंके भरोसे ही) उस कलाके प्रयोग करने होंगे। इसका अर्थ

क्या होगा ?—इंग्लैंडसे आज हम निरे स्वराज्यका ही नहीं बल्कि बिलकुल पक्के—पूर्ण स्वराज्यका वचन ले लेते हैं और वह उसे सप्रेम, सधन्यवाद और सव्याज (व्याज सहित) लौटा देते हैं। भगवान्ने अर्जुनको गीताका उपदेश देनेके बाद उससे कहा, "तू अपनी इच्छासे जो-कुछ करना हो सो कर"। और फिर कहा, "सब कुछ छोड़कर मेरी शरण आ" दोनोंका सम्मिलित अर्थ यह है कि "तू अपनी खुशीसे मेरी शरण आ।" ईश्वरकेलिए भक्तको यही करना चाहिए। इंग्लैंड-केलिए हमें भी वही करना होगा।

नैष्ठिक अहिंसाको ताकपर रखकर सरकारसे हिंसात्मक सहयोग—अर्थात् सरकार और दूसरे हिंसा-निष्ठ लोगोंके हिंसात्मक सहयोगकी स्वीकृति—की नीतिकी यह सारी निष्पत्ति ध्यानमें लानेपर यही कहना पड़ता है कि शस्त्रास्त्र और यादवोंकी सेना लेकर कृष्णको छोड़नेवाले अज्ञ दुर्योधनका ही अनुकरण हम कर रहे हैं। इसके बदले कांग्रेस अपनी अहिंसा मजबूत करे; अनायास मिलनेवाले स्वराज्यकी आशंका ही नहीं बल्कि कल्पनाका भी त्याग कर दे, अपने सहयोगका अर्थ नैतिक सहयोग घोषित कर दे, और स्वराज्यका संबंध वर्तमान युद्धसे न जोड़कर जिस प्रकार मिट्टीसे श्रीगणेशजीकी मूर्त्तिका निर्माण किया जाता है उसी प्रकार अपनी शक्तिसे यथासमय अभ्यंतरसे स्वराज्यका निर्माण करनेकी कारीगरी अख्तियार कर ले, तो क्या यह सब प्रकारसे उत्तम नहीं है ?

ऐसा स्वराज्य किसीके टालनेसे टल नहीं सकता। सूर्य भगवान्के समान वह सहज ही उदित होगा। सूर्य तो पूर्व दिशामें उदित होता है, लेकिन उसका प्रकाश और गरमी ठेठ पश्चिमतक सभी दिशाओंमें फैलती है। स्वराज्यके विषयमें भी यही होगा। उसका जन्म तो हिंदु-स्तानमें होगा; लेकिन उसकी बदौलत सारी दुनियाकेलिए मुक्तिका रास्ता खुल जायगा। उसका शत्रु पैदा होनेसे पहले ही मर जायगा। भीतरी दंगे-फिसादकी संभावना मिटाकर ही उस स्वराज्यका आविर्भाव हुआ होगा; इसलिए भीतरी कलहके निवारणका सवाल सामने आयेगा

ही नहीं। यही हाल बाह्य-आक्रमणका भी होगा। या अगर यह मान भी लिया जाय कि इन दो समस्याओंके अवशेष कायम रहेंगे तो भी उनको हल करना आज जितना कठिन मालूम होता है उतना नहीं मालूम होगा। यह स्वराज्य कितनी ही देरमें क्यों न मिले तो भी वही जल्दी-से-जल्दी मिलेगा। क्योंकि वही 'स्वराज्य' होगा और वही चिरजीवी होगा।

लेकिन कुछ लोग यह शंका करेंगे कि हिंदुस्तानको क्या सचमुच अहिंसासे स्वराज्य मिलेगा? यहां इस शंकाका विचार करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि यह शंका ही नहीं है, यह तो निष्क्रिय लोगोंका निश्चय है। वे यह जानते हैं कि हिन्दुस्तानकेलिए हिंसासे स्वराज्य प्राप्त करना संभव नहीं और उनका यह विश्वास है कि अहिंसासे कभी किसीको स्वराज्य मिल ही नहीं सकता। इसलिए निष्क्रिय रहकर आलोचनात्मक साहित्यकी वृद्धि करना उनका निश्चित कार्यक्रम है। तब उनके पीछे पड़नेसे क्या फायदा? इसके अलावा, कांग्रेस आजतक यह मानती है कि संगठित अहिंसा ही स्वराज्यका एक-मात्र व्यवहार्य साधन है, और ऐसे विचारवाले लोगोंके ही लिए यह लेख है।

लेकिन कांग्रेसवालोंके दिमागमें कुछ दूसरी ही तरहकी गड़बड़ी पैदा हो रही है। एक व्यवस्थित सरकारका सामना करके स्वराज्य प्राप्त करना और एकाएक होनेवाले बाहरी हमले या अंदरूनी लड़ाई-झगड़ों-का निवारण करना, दोनों उन्हें बिल्कुल भिन्न कोटिकी समस्याएं प्रतीत होती हैं। उनके सामने यह जटिल समस्या है कि पहली बात तो हम अपनी टूटी-फूटी अहिंसासे साध सकते हैं, लेकिन दूसरी बात बलवानों-की नैष्ठिक अहिंसाके बिना सध ही नहीं सकती। वह नैष्ठिक अहिंसा हम कहांसे लायें?

मेरे नम्र विचारमें यह एक भ्रम है और इसका निवारण होना नितांत आवश्यक है। जिस प्रकार स्वराज्य-प्राप्ति नैष्ठिक अहिंसाके बिना असंभव है उसी प्रकार स्वराज्य-रक्षण भी नैष्ठिक अहिंसाके बिना असं-

भव है। अबतक दुर्बलोंकी अहिंसाका एक प्रयोग हमने किया। उसकी बदौलत थोड़ी-बहुत सत्ता मिली या मिलनेका आभास हुआ। मैं 'आभास' कहता हूं, कारण कांग्रेसके शासन-कालमें जो-जो विचित्र घटनाएं घटीं उन्हें हम जानते ही हैं। फिर भी, उसे आभास कहनेके बदले यही मान लिया जाय कि हमने थोड़ी-बहुत सत्ता प्राप्त कर ली। परंतु इस सत्ताभास अथवा इस अल्पसत्तामें और जिसे हम स्वराज्य कहते हैं और जिसके पीछे 'पूर्ण' विशेषण लगाये बिना हमारी आत्माको कल नहीं पड़ती उस हमारे उद्घोषित ध्येयमें जमीन-आसमानका अंतर है। यह अंतर चाहे जैसी मिलावटी और अव्यवस्थित अहिंसासे नहीं काटा जा सकता। उसकेलिए बलवानोंकी पराक्रमी अहिंसाकी ही जरूरत होगी, यह समझ लेनेका समय अब आ गया है। जितनी जल्दी हमारी समझमें यह बात आ जायगी उतनी ही जल्दी हमारे विचारोंकी ये गुत्थियां सुलझ जायंगी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वराज्य गणेशजीकी वह मूर्ति है जिसका निर्माण हमें मिट्टीमेंसे करना है। नदीके प्रवाहके साथ बहकर आनेवाला वह नर्मदा-गणेश नहीं है। हमारे कुछ बुजुर्गों और बड़े-बूढ़ोंकी यह समझ हो गई है कि हमने जो-कुछ थोड़ी-बहुत अहिंसाका प्रदर्शन किया है उससे मानो भगवान् प्रसन्न हो गये हैं, और उन प्रसन्न भगवान्ने हमारे संकट-मोचनकेलिए यह युद्ध भेज दिया है। शुद्ध भावसे किये हुए हमारे उस अल्पमत प्रयत्न और भगवान्की इस अपरंपार कृपाके संयोगसे अब हमारा कार्य जल्दी ही सिद्ध होनेवाला है। इस कल्पनाके भंवर-जालमें पड़नेके कारण हम इस गफलतमें हैं कि हमारी कमजोर अहिंसा भी हमें स्वराज्यमें बरबस ढकेलकर ही रहेगी। लेकिन इसके विपरीत अनुभव हुआ और इंग्लैंडने सचमुच हमें स्वराज्य दे भी दिया तो भी वास्तवमें स्वराज्य नहीं मिलता, अपनी यह राय मैं ऊपर पेश कर चुका हूं।

तब सवाल यह उठता है कि "क्या आप व्यवस्थित सरकारसे लोहा

लेना और बाह्य आक्रमण तथा भीतरी अराजकताका प्रतिकार करना, इन दो बातोंमें कोई फर्क ही नहीं करते ?" उत्तर यह है कि "करते हैं और नहीं भी करते।" एक क्षेत्रमें दुर्बल अहिंसासे काम चल जायगा और दूसरे क्षेत्रमें बलवती अहिंसाकी आवश्यकता होगी, इस तरहका कोई फर्क हम नहीं करते। यदि स्वराज्यका अर्थ पूर्ण-स्वराज्य हो तो दोनों क्षेत्रोंमें बलवती अहिंसाकी ही आवश्यकता होगी। लेकिन व्यवस्थित सरकारसे टक्कर लेनेमें उसकी जो कसौटी होगी उससे भिन्न प्रकारकी कसौटी दूसरे क्षेत्रोंकेलिए होगी, यह फर्क हम करते हैं। उसमें भी मैं भिन्न-भिन्न प्रकारकी कसौटी कहता हूं। अधिक बड़ी कसौटी भी निश्चित रूपसे नहीं कहता और न 'कम कड़ी' ही कहता हूं।

इसपर कुछ लोग कहते हैं, "तुम्हारी सारी बातें मंजूर हैं, लेकिन व्यक्तिकी हैसियतसे। नैष्ठिक अहिंसामें हमारी श्रद्धा है। हम उसकी तैयारी भी करेंगे। लेकिन हम जनताके प्रतिनिधि हैं। इसलिए हमारे सिर्फ पैर ही नहीं लड़खड़ाते, दिमाग भी डगमगाने लगता है। क्या आजकी स्थितिमें जनताकेलिए अहिंसा हितकर होगी ? हमारी रायमें न होगी।"

इसके जवाबमें दूसरे कहते हैं, "अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीसे फैसला करा लें।"

मैं कहता हूं, "यह सारी विचार-धारा ही अनुपयुक्त है। आम-जनता—जिसकी गिनती चालीस करोड़से की जाती है वह जनता—हिंदुस्तानकी जनता-जैसी प्राचीन और अनुभवी जनता—अनेक मानव-समूहसे बनी हुई जनता—बिना किसीसे पूछे-ताछे अहिंसक मान ली जानी चाहिए। उसे बरबस हिंसाके दलमें ढकेलना या उसकी अहिंसकताका सबूत 'अखिल भारतीय' नाम धारण करनेवाली कांग्रेस-कमेटीसे मांगना नाहक समय नष्ट करना है। हिंदुस्तानकी जनता अहिंसक, अहिंसक और अहिंसक ही है। वह 'अहिंसावादी' नहीं है। यह 'वाद' तो उसके नामपर विद्वान् सेवकोंको खड़ा करना है। वह 'अहिंसाकारी'

भी नहीं है। यह कार्य उसकी तरफसे उसके सत्याग्रही सेवकोंको करना है। उन दोनोंको मिलाकर उससे 'क्या तू अहिंसावादी है' ? और 'क्या तू अहिंसाकारी है ?' ऐसा ऊटपटांग प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। अगर व्यक्तिगत रूपसे अहिंसामें हमारी श्रद्धा हो तो अहिंसासे शक्तिका निर्माण करना हमारा कर्त्तव्य है। इस कार्यमें जनताका उत्तम आशीर्वाद सदा हमारे साथ है। अहिंसा-जैसे प्रश्नके विषयमें जनताके मत-परिज्ञान-की जरूरत नहीं, उसका स्वभाव-परिज्ञान काफी है।"

इसपर फिर कुछ लोग कहते हैं "यह भी माना लेकिन हमारा प्रश्न तो तुरत का है। अगर अहिंसाका आग्रह लेकर बैठ जायेंगे तो हम तैयारी तो करेंगे, शक्ति भी प्राप्त करेंगे और यथासंभव सिद्ध भी प्राप्त कर लेंगे, लेकिन वर्तमान कालमें तो हम बिलकुल ही एक कोनेमें पड़े रहेंगे। दूसरे आगे आयेंगे। सरकार उनकी सहायता ले लेगी और राजनीतिमें हम पीछे छूट जायेंगे।"

कोई हर्ज नहीं। हमें राजकारण (राजनीति)से सरोकार ही नहीं। हमें तो स्वराज्यकारण (स्वराज्य-नीति) से मतलब है। जैसा कि गांधीजीने लिखा है, "जो आगे बढ़ेंगे वे भी तो हमारे भाई-बंद ही होंगे।" मैं तो कहता हूं कि अपनी इस पवित्र स्वराज्य-साधनामें ईश्वरसे हम यही प्रार्थना करें कि वह हमें चाहे जिस कोनेमें फेंक दे, लेकिन भ्रम या मोहमें न डाले। हम स्वराज्य-साधक हैं, हमें राज्य-कामनाका स्पर्श न हो।

—'नत्वहं कामये राज्यम्।' [२२-७-४०

: ३४ :

सेवा व्यक्तिकी; भक्ति समाजकी

बीस बरससे मैंने कुछ किया है तो सार्वजनिक काम ही किया है। जब विद्यार्थी अवस्थामें था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवाकी ही थी। यों कह सकते हैं कि जीवनमें मैंने सिवा सार्वजनिक सेवाके न कुछ किया है, न करनेकी इच्छा ही है। पर मेरा आशय है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और लोगोंने की है वैसी मैंने नहीं की। सबेरे एक भाईने मुझसे पूछा "आप कांग्रेसमें नहीं जायंगे क्या ?" मैंने कहा कि, "मैं तो कांग्रेसमें कभी नहीं गया।" सेवाकी मेरी पद्धति और प्रवृत्ति कांग्रेसमें जाना और वहां बहस करना नहीं रही है। इसका महत्त्व मैं जानता हूं सही, पर यह मेरेलिए नहीं है। मैं कांग्रेसकी प्रवृत्तियोंसे अनभिज्ञ नहीं हूं। विचार करनेवाले भाई तो बहुत हैं। मैं तो उन लोगोंमें हूं जो मूक-सेवा करना चाहते हैं। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नहीं हो सकी जितनी कि मैं चाहता हूं। मेरा सेवाका उद्देश्य भक्ति-भाव है। भक्ति-भावसे ही मैं सेवा करता हूं, और २० सालसे प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हूं। प्रचार अभीतक न किया है और न आगे करनेकी संभावना ही है।

मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है, "सेवा व्यक्तिकी; भक्ति समाजकी।" व्यक्तिकी भक्तिमें आसक्ति बढ़ती है, इसलिए भक्ति समाजकी करनी चाहिए। सेवा समाजकी करना चाहें तो कुछ भी नहीं कर सकते। समाज तो एक कल्पना-मात्र है। कल्पनाकी हम सेवा नहीं कर सकते। माताकी सेवा करनेवाला लड़का दुनियाभरकी सेवा करता है, यह मेरी

धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तुकी ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तुकी नहीं। समाज अप्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है जो परमात्मातक पहुंचे। आजकल सेवाकी कुछ अनोखी-सी पद्धति देखनेमें आती है। सेवाकेलिए हम विशाल-क्षेत्र चाहते हैं। पर अगर असली सेवा करनी है, सेवामय बन जाना है, अपनेको सेवामें खपा देना है; तो किसी देहातमें चले जाइए। मुझसे एक भाईने कहा कि "बुद्धिशाली लोगोंसे आप कहते हैं कि देहातमें चले जाइए। विशाल बुद्धिके विस्तारकेलिए उतना लंबा-चौड़ा क्षेत्र वहां कहां है?" मैंने कहा कि, "ऊंचाई तो है, अनंत आकाश तो है? वह लंबा सफर नहीं कर सकता। पर ऊंचा सफर तो कर सकता है, गहरा तो जा सकता है?" संत इतने ऊंचे चढ़ते थे कि उसका कोई हिसाब नहीं मिलता। कोई बड़े-से-बड़ा विज्ञान-वेत्ता भी आकाशकी ऊंचाई मालूम नहीं कर सकता। देहातमें हम लंबा-चौड़ा नहीं, पर ऊंचा सफर कर सकते हैं। वहां ऊंचे-से-ऊंचे चढ़नेका अवसर है। ऊंची या गहरी सेवा वहां खूब हो सकती है। हमारी वह एकाग्र सेवा प्रथम श्रेणीकी सेवा हो जायगी, और फलदायक भी होगी।

राष्ट्रके सारे प्रश्न देहातके व्यवहारमें आ जाते हैं। जितना समाज-शास्त्र राष्ट्रमें है उतना एक कुटुंबमें भी आ जाता है, देहातमें तो है ही। समाजशास्त्रके अध्ययनकेलिए गांवमें काफी गुंजाइश है। मैं तो इस विश्वासको बुद्धिका अभाव ही मानूंगा कि प्रौढ़ विवाह प्रचलित होनेसे भारतवर्ष सुधर गया, और बाल-विवाहसे बिगड़ गया था। प्रौढ़-विवाहमें भी अक्सर वैवाहिक आनंद देखनेमें नहीं आता, और बाल-विवाहके भी ऐसे उदाहरण देखे गये हैं जिनमें पति-पत्नी सुख-शांतिसे रहते हैं। विवाह-संस्थामें संयमकी पवित्र भावना कैसे आये, यह मसला हमने हल कर लिया तो सब-कुछ कर लिया। विवाहका उद्देश्य ही यह है। इसी प्रकार हिन्दुस्तानकी राजनीतिका नमूना भी देहातमें पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहातकी भी जनताको हमने

आत्म-निर्भर कर दिया तो बहुत बड़ा काम कर दिया। वहांके अर्थ-शास्त्र-को कुछ व्यवस्थित कर दिया तो बहुत-कुछ हो गया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनोंके बीचमें रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायंगे। हां, वहां जाकर हमें उनके साथ दरिद्र-नारायण बनना है, पर 'बेवकूफ-नारायण' नहीं। अपनी बुद्धिका उनकेलिए उपयोग करना है, निरहंकार बनना है। हम यह न समझें कि वे सब निरे बेवकूफ ही होते हैं। भारतके देहातोंका अनुभव और देशोंकी तरह चंद सदियोंका नहीं, कम-से-कम २० हजार वर्षका है। वहां जो अनुभव है उससे हमें लाभ उठाना है। ज्ञान-भंडारकी तरह द्रव्य-भंडार भी वहींसे पैदा करना है और पूरी तरहसे निरहंकार बनकर उसमें प्रवेश करना है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिन्दू समझते हैं कि ये सुधारक तो गांवको बिगाड़ रहे हैं; सवर्णोंके साथ हमारा उतना संबंध नहीं जितना कि हरिजनोंके साथ है। सवर्णोंको अपनी प्रवृत्तिकी ओर खींचने और उनकी शंका दूर करनेके विषयमें सोचा क्या गया है?

अस्पृश्यता-निवारणका काम हमें दो प्रकारसे करना है। एक तो हरिजनोंकी आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्तिमें सुधार करके और दूसरे हिन्दूधर्मकी शुद्धि करके, अर्थात् उसको उसके असली रूपमें लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन हैं, यह हम न मानें। वे दुर्जन या दुष्टबुद्धि नहीं हैं, यह तो उनके विचारोंकी संकीर्णता है। प्लेटोने कहा था कि "सिवा ग्रीक लोगोंके मेरे ग्रंथोंका अध्ययन और कोई न करे।" इसका यह अर्थ हुआ कि ग्रीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्य-की आत्मा व्यापक है, पर अव्यापकता उसमें रह ही जाती है। आखिर मनुष्यकी आत्मा एक देहके अन्दर बसी हुई है। इसलिए सनातनियोंके प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हमें उनका विरोध नहीं करना चाहिए। हम तो वहां बैठकर चुपचाप सेवा करें। हरिजनोंके साथ-साथ जहां जब अवसर मिले सवर्णोंकी भी सेवा करें। एक भाई हरिजनोंका स्पर्श नहीं करता, पर वह दयालु है। हम उसके पास जायें, उसकी

दयालुताका लाभ उठायें। उसकी मर्यादाको समझकर उससे बात करें। थोड़े दिनमें उसका हृदय शुद्ध हो जायेगा, उसके अंतरका अंधकार दूर हो जायगा। सूर्यकी तरह हमारी सेवाका प्रकाश स्वतः पहुंच जायेगा। हमारे प्रकाशमें हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अंधकारकी लड़ाई तो एक क्षणमें ही खत्म हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसाका हो, प्रेमका हो। मेरी मर्यादा यह है कि मैं दरवाजा ढकेलकर अंदर नहीं चला जाऊंगा। मैं तो सूर्यकी किरणोंका अनुकरण करूंगा। दीवारमें, छप्परमें या किवाड़में कहीं जरा-सा भी छिद्र होता है तो किरणें चुपचाप अंदर चली जाती हैं। यही दृष्टि हमें रखनी चाहिए। हममें जो विचार है वह प्रकाश है, यह मानना चाहिए। किसी गुफाका एक लाख वर्षका भी अंधकार एक क्षणमें ही प्रकाशसे दूर हो जायेगा। लेकिन यह होगा अहिंसाके ही तरीकेसे। सनातनियोंको गालियां देना तो अहिंसाका तरीका नहीं है। हमें मुंहसे खूब तौल-तौलकर शब्द निकालने चाहिएं। हमारी वाणीकी कटुता यदि चली गई तो उनका हृदय पलट जायेगा। ऐसी लड़ाई आजकी नहीं, बहुत पुरानी है। संतोंका जीवन अपने विरोधियोंके साथ झगड़नेमें ही बीता। पर उनके झगड़ेका तरीका प्रेमका था। जिस भगवानने हमें बुद्धि दी है उसीने हमारे प्रतिपक्षियोंको भी दी है। आजसे १५—२० वर्ष पहले हम भी तो उन्हींकी तरह अस्पृश्यता मानते थे। हमारे संतोंने तो आत्म-विश्वासके साथ काम किया है। वाद-विवादमें पड़ना हमारा काम नहीं। हम तो सेवा करते-करते ही खत्म हो जायें। हमारे प्रचार-कार्यका सेवा ही विशेष साधन है। दूसरोंके दोष बताने और अपने विचार सामने रखनेका मोह हमें छोड़ देना चाहिए। मां अपने बच्चेके दोष थोड़े ही बताती है, वह तो उसके ऊपर प्रेमकी वर्षा करती है, उसके बाद फिर कहीं दोष बतलाती है। असर ऐसी ही प्रेममयी सेवाका होता है।

: ३५ :

ग्राम-सेवा और ग्राम-धर्म

जब हम सेवा करनेका उद्देश्य लेकर देहातमें जाते हैं तब हमें यह नहीं सूझता कि कार्यका आरंभ किस प्रकार करना चाहिए। हम शहरोंमें रहनेके आदी हो गये हैं। देहातकी सेवा करनेकी इच्छा ही हमारा मूलधन—हमारी पूंजी होती है। अब सवाल यह खड़ा हो जाता है कि इतनी थोड़ी पूंजीसे व्यापार किस तरह शुरू करें मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहातमें जाकर व्यक्तियोंकी सेवा करनेकी तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे समाजकी तरफ। सारे समाजके समीप पहुंचना संभव भी नहीं है। रणभूमिमें लड़नेवाले सिपाहीसे अगर हम पूछें कि किसके साथ लड़ता है तो वह कहेगा "शत्रुके साथ।" लेकिन लड़ते समय वह अपना निशाना किसी एक ही व्यक्तिपर लगाता है। ठीक इसी प्रकार हमें भी सेवा-कार्य करना होगा। समाज अव्यक्त है, परन्तु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है। उसकी सेवा हम कर सकते हैं। डाक्टरके पास जितने रोगी जाते हैं उन सबको वह दवा देता है, मगर हरएक रोगीका वह खयाल नहीं रखता। प्रोफेसर सारे क्लासको पढ़ाता है, पर हरएक विद्यार्थीका वह ध्यान नहीं रखता। ऐसी सेवासे बहुत लाभ नहीं हो सकता। यह डाक्टर जब कुछ रोगियोंके व्यक्तिगत संपर्कमें आयेगा, या प्रोफेसर जब कुछ चुने हुए विद्यार्थियोंपर ही विशेष ध्यान देगा, तभी वास्तविक लाभ हो सकेगा। हां, इतना खयाल हमें जरूर रखना होगा कि व्यक्तियोंकी हिंसा, नाश या हानि न हो। देहातमें जाकर इस तरह अगर कोई कार्यकर्त्ता सिर्फ २५ व्यक्तियोंकी ही सेवा

कर सका, तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया। ग्राम-जीवनमें प्रवेश करनेका यही सुलभ तथा सफल मार्ग है। मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि जिन्होंने मेरी व्यक्तिगत सेवा की है उन्होंने मेरे जीवनपर अधिक प्रभाव डाला है। बापूजीके लेख मुझे कम ही याद आते हैं। लेकिन उनके हाथका परोसा हुआ भोजन मुझे सदा याद आता है, और मैं मानता हूं कि उससे मेरे जीवनमें बहुत परिवर्तन हुआ है। यह है व्यक्तिगत सेवाका प्रभाव। व्यक्तियोंकी सेवामें समाज-सेवाका निषेध नहीं है। समाज गीताकी भाषामें अनिर्देश्य है, निर्गुण है, और व्यक्ति सगुण और साकार; अतः व्यक्तिकी सेवा करना आसान है।

दूसरी और सूचना मैं रखना चाहता हूं। हमें देहातियोंके सामने ग्राम-सेवाकी कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्र-धर्मकी। उनके सामने राष्ट्र-धर्मकी बातें करनेसे लाभ न होगा। ग्राम-धर्म उनकेलिए जितना स्वाभाविक और सहज है उतना राष्ट्र-धर्म नहीं। इसलिए हमें उनके सामने ग्राम-धर्म ही रखना चाहिए, राष्ट्र-धर्म नहीं। इसमें भी वही बात है जो व्यक्ति-सेवाके विषयमें मैंने ऊपर कही है। ग्राम-धर्म सगुण, साकार और प्रत्यक्ष होता है; राष्ट्र-धर्म निर्गुण, निराकार और परोक्ष होता है। बच्चेकेलिए त्याग करना मांको सिखाना नहीं पड़ता। आपसके झगड़े मिटाना, गांवकी सफाई तथा स्वास्थ्यका ध्यान रखना, आयात-निर्यातकी वस्तुओं और ग्रामके पुराने उद्योगोंकी जांच करना, नये उद्योग खोज निकालना, इत्यादि गांवके जीवन-व्यवहारसे संबंध रखनेवाली हर-एक बात ग्राम-धर्ममें आ जाती है। पुरानी पंचायत-पद्धति नष्ट हो जाने-से देहातकी बड़ी हानि हुई है। झगड़े निबटानेमें पंचायतका बहुत उप-योग होता था। अभी इस असेंबलीके चुनावसे हमें यह अनुभव हुआ है कि देहातियोंको राष्ट्र-धर्म समझाना कितना कठिन है। सरदार वल्लभ-भाई और पंडित मालवीयजीके बीच मत-भेद हो गया, अब इसमें बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे? उसके मनमें दोनों ही नेता समान रूपसे पूज्य हैं। वह किसे माने और किसे छोड़े? इसलिए ग्राम-

सेवामें हमें ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखने चाहिएं। वैदिक ऋषियोंकी भांति हमारी भी प्रार्थना यही होनी चाहिए कि "ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्"—हमारे ग्राममें बीमारी न हो।

तीसरी बात जो मैं कहना चाहता हूं वह है सेवकके रहन-सहनके संबंधकी। सेवककी आवश्यकताएं देहातियोंसे कुछ अधिक होनेपर भी वह ग्राम-सेवा कर सकता है। लेकिन उसकी वे आवश्यकताएं विजातीय नहीं, सजातीय होनी चाहिए। सेवकको दूधकी आवश्यकता है, दूधके बिना उसका काम नहीं चल सकता, और देहातियोंको तो घी-दूध आजकल नसीब नहीं होता; तो भी देहातमें रहकर वह दूध ले सकता है, क्योंकि दूध सजातीय अर्थात् देहातमें पैदा होनेवाली चीज है। किंतु सुगंधित साबुन देहातमें पैदा होनेवाली चीज नहीं है, इसलिए साबुनको विजातीय आवश्यकता समझना चाहिए और सेवकको उपयोग नहीं करना चाहिए। कपड़े साफ रखनेकी बात लीजिए। देहाती लोग अपने कपड़े मैले रखते हैं, लेकिन सेवकको तो उन्हें कपड़े साफ रखनेकेलिए समझाना चाहिए। इसकेलिए बाहरसे साबुन मंगाना और उसका प्रचार करना मैं ठीक नहीं समझता। देहातमें कपड़े साफ रखनेके लिए जो साधन उपलब्ध हैं या हो सकते हैं उन्हींका उपयोग करके कपड़े साफ रखना और लोगोंको उसके विषयमें समझाना सेवकका धर्म हो जाता है। देहातमें उपलब्ध होनेवाले साधनोंसे ही जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेकी ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए। सजातीय वस्तुका उपयोग करनेमें भी सेवकको विवेक और संयमकी आवश्यकता तो रहती ही है। अखबारका शौक देहातमें पूरा न हो सकेगा।

मैं जो खास बातें यहां कहना चाहता था वे तो मैंने कह दीं। अब दो-तीन और बातें कहकर अपना वक्तव्य समाप्त करूंगा। खादी-प्रचारके कार्यमें अभीतक चरखेका ही उपयोग हुआ है। एक लाखके इनामवाले चरखेकी अभी खोज हो रही है। मैं उसे एक लाखका चरखा कहता हूं। लेकिन मेरे पास तो एक सवा लाखका चरखा है, और वह है तकली।

उसे मैं सचमुच ही सवा लाखका चरखा मानता हूं। खादी उत्पत्तिके लिए चरखा उत्तम है। लेकिन सार्वजनिक वस्त्र-स्वावलंबनकेलिए तकली ही उपयुक्त है। नदीका पाट चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह वर्षा-का काम नहीं दे सकता। नदीका उपयोग तो नदीके तटपर रहनेवाले ही कर सकते हैं। पर वर्षा सबकेलिए है। तकली वर्षाके समान है। जहां कहीं वह चलेगी वहां वस्त्र-स्वावलंबनका कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे बिहारके एक भाई कहते थे कि वहां मजदूरीकेलिए भी तकली-का उपयोग हो रहा है। तकलीपर कातनेवालोंको वहां हफ्तेमें तीन-चार पैसे मिल जाते हैं। लेकिन उनके कातनेकी जो गति है वह तीन या चार गुनीतक बढ़ सकती है। गति बढ़ानेसे मजदूरी भी तीन या चार या पांच गुनीतक मिल सकेगी। यह कोई मामूली बात नहीं है। हमारे देश-में एक व्यक्तिको १४-१५ गज कपड़ा चाहिए, इसकेलिए प्रतिदिन सिर्फ एक सौ तार कातनेकी जरूरत है। यह काम तकलीपर आध घंटेमें हो सकता है। चरखा बिगड़ता भी रहता है, पर तकली तो हमेशा ही आपकी सेवामें हाजिर रहती है। इसीलिए मैं उसे सवालाखका चरखा मानता हूं।

देहातमें सफाईका काम करनेवाले सेवक कहते हैं कि कई दिनतक यह काम करते रहनेपर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह शिकायत ठीक नहीं। स्व-धर्म समझकर ही अगर हम यह काम करेंगे तो अकेले रहजानेपर उसका दुःख हमें न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न? यह मेरा काम है, दूसरे करें या न करें, मुझे तो अपना काम करना ही चाहिए—यह समझकर जो सेवक कार्यारंभ करेगा उसको सिंहा-वलोकन करनेकी, यानी यह देखनेकी कि मेरे पीछे मददकेलिए कोई और है या नहीं, आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई-संबंधी सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तियोंकी अपेक्षा समाजकी ही अधिक होगी और होनी चाहिए। परंतु सेवककी दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते, इसीलिए उसे पूरा करना उसका

कर्त्तव्य हो जाता है। इसमें सेवकका स्वार्थ भी है, क्योंकि मार्गकी गंदगीका असर उसके स्वास्थ्यपर भी अवश्य पड़ता है।

औषधि-वितरणमें एक बातका हमेशा खयाल रखना चाहिए कि हम अपने कार्यसे देहातियोंको पंगु तो नहीं बना रहे हैं। उनको तो स्वावलंबी बनाना है। उनको स्वाभाविक तथा संयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिएं। रोगकी दवाइयां देनेकी अपेक्षा हमें ऐसा जतन करना चाहिए कि रोग होने ही न पाये। यह काम देहातियोंको अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखानेसे ही हो सकता है।

: ३६ :

साहित्य उलटी दिशामें

पिछले दिनों एक बार हमने इस बातकी खोज की थी कि देहातके साधारण पढ़े-लिखे लोगोंके घरमें कौन-सा मुद्रित वाङ्मय (छपा हुआ साहित्य) पाया जाता है। खोजके फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पांच प्रकारका वाङ्मय पढ़ा जाता है—

(१) समाचारपत्र, (२) स्कूली किताबें, (३) उपन्यास, नाटक; गल्प, कहानियां आदि, (४) भाषामें लिखे हुए पौराणिक और धार्मिक ग्रंथ, और (५) वैद्यक संबंधी पुस्तकें।

इससे यह अर्थ निकलता है कि हम यदि लोगोंके हृदय उन्नत करना चाहते हैं तो उक्त पांच प्रकारके वाङ्मयकी उन्नति करनी चाहिए।

पारसालका जिक्र है। एक मित्रने मुझसे कहा, "मराठी भाषा कितनी ऊंची उठ सकती है, यह ज्ञानदेवने दिखाया; और वह कितनी नीचे गिर सकती है, यह हमारे आजके समाचारपत्र बता रहे हैं!' (साहित्य-सम्मेलनके) अध्यक्षकी आलोचना और हमारे मित्रके उद्‌गारका अर्थ "प्राधान्येन व्यपदेशः" सूत्रके अनुसार निकलना चाहिए। अर्थात् उनके कथनका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि सभी समाचारपत्र अक्षरशः प्रशांत महासागरकी तहतक जा पहुँचे हैं। मोटे हिसाबसे परिस्थिति क्या है, इतना ही बोध उनके कथनोंसे लेना चाहिए। इस दृष्टिसे दुःखपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि यह आलोचना यथार्थ है।

लेकिन इसमें दोष किसका है? कोई कहता है संपादकोंका; कोई

कहता है पाठकोंका; कोई कहता है पूंजीपतियोंका। गुनाहमें तीनों ही शरीक हैं, और "कमाईका हिस्सा" तीनोंको बराबर-बराबर मिलनेवाला है, इसमें किसीको कोई शक नहीं। परन्तु मेरे मतसे—अपराधी ये तीनों भले ही हों—अपराध करनेवाला दूसरा ही है, और वही इस पापका वास्तविक 'धनी' है। वह कौन है?—साहित्यकी व्याख्या करनेवाला चटोर अथवा रुचि-भ्रष्ट साहित्यकार।

"विरोधी विवादका बल, दूसरोंका जी जलाना, जली-कटी या तीखी बातें कहना, मखौल (उपहास), छल (व्यंग), मर्मभेद (मर्म-स्पर्श), आड़ी-टेढ़ी सुनाना (वक्रोक्ति), कठोरता, पेचीदगी, सन्दिग्धता, प्रतारणा (कपट)"—ज्ञानदेवने ये वाणीके दोष बतलाये हैं। परंतु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्हीं अवगुणोंको 'वाग्भूषा' या साहित्यकी सजावट मानते हैं। पिछले दिनों एक बार रामदासकी, 'ओछी तबीयत-वालोंको विनोद भाता है,' इस उक्तिपर कई साहित्यिक बड़े गरम हो गये थे। रामदासके आशयपर ध्यान देकर, उससे उचित उपदेश लेनेके बदले इन लोगोंने यह आविष्कार किया कि विनोदका जीवन और साहित्यमें जो स्थान है रामदास वही नहीं समझ पाये थे। उपहास, छल, मर्मस्पर्श आदि ज्ञानदेवने अस्वीकार किये, इसे भी हमारे साहित्य-कार—अपनी साहित्यकी परिभाषाके अनुसार—ज्ञानदेवके अज्ञानका ही फल समझेंगे।

ज्ञानदेव या रामदासको राष्ट्र-कल्याणकी लगन थी और हमारे विद्वानोंको चटपटी भाषाकी चिंता रहती है, चाहे उससे राष्ट्र-घात ही क्यों न होता हो—यह इन दोनोंमें मुख्य भेद है। हमारी साहित्य-निष्ठा ऐसी है कि चाहे सत्य भले ही मर जाय, साहित्य जीता रहे।

"हे प्रभो, अभीतक मुझे पूर्ण अनुभव नहीं होता है, तो क्या, मेरे देव, मैं केवल कवि ही बनकर रहूं?"—इन शब्दों में तुकाराम ईश्वर-से अपना दुखड़ा रोते हैं और ये (साहित्यकार) खोज रहे हैं कि तुका-रामके इस वचनमें काव्य कहांतक सधा है! हमारी पाठशालाओंकी

शिक्षाका सारा तरीका ही ऐसा है। मैंने एक निबन्ध पढ़ा था। उसमें लेखकने तुलसीदासकी शेक्सपियरसे तुलना की थी और किसका स्वभाव-चित्रण किस दर्जेका है इसकी चर्चा की थी। मतलब यह कि जो तुलसीदासकी रामायण हिंदुस्तानके करोड़ों लोगोंकेलिए—देहातियोंके लिए भी—जीवनकी मार्ग-प्रदर्शक पुस्तक है उसका अध्ययन भी यह भला आदमी स्वभाव-चित्रणकी शैलीकी दृष्टिसे करेगा। शायद कुछ लोगोंको मेरे कथनमें कुछ अतिशयता प्रतीत हो, लेकिन मुझे तो कई बार ऐसा ही जान पड़ता है कि इन शैली-भक्तोंने राष्ट्रके शीलकी हत्याका उद्योग शुरू किया है।

शुकदेवका एक श्लोक है जिसका भावार्थ यह है कि "जिससे जनताका चित्त शुद्ध होता है वही उत्तम साहित्य है।" जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते हैं, और जिनसे आज हम प्रभावित हैं, वे यह व्याख्या स्वीकार नहीं करते। उन्होंने तो शृंगारसे लेकर वीभत्सतक विभिन्न रस माने हैं, और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है जिसमें ये रस हों। साहित्यकी यह समूची व्याख्या स्वीकार कर लीजिए, उसमें कर्त्तव्य-शून्यता मिला दीजिए, फिर कोई भी बतला दे कि आजके मराठी समाचारपत्रोंमें जो पाया जाता है उसके सिवा और किस साहित्यका निर्माण हो सकता है?

: ३७ :

लोकमान्यके चरणोंमें

आजका नैमित्तिक धर्म लोकमान्यका पुण्य-स्मरण है। आज तिलक-की पुण्यतिथि है।

१६२० में तिलक शरीर-रूपसे हमारे अंदर नहीं रहे। उस समय मैं बम्बई गया था। चार-पांच दिन पहले ही पहुंचा था। परतु डाक्टरने कहा 'अभी कोई डर नहीं है।' इसलिए मैं एक कामसे साबरमती जानेको रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊंगा कि मुझे लोकमान्यकी मृत्युका समाचार मिला। मेरे अत्यंत निकटके आत्मीय, सहयोगी और मित्रकी मृत्युका जो प्रभाव हो सकता है वही लोकमान्यके निधनका हुआ। मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिनसे जीवनमें कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई बहुत ही प्रेम करनेवाला कुटुंबी चल बसा हो। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। आज इतने बरस हो गये। आज फिर उनका स्मरण करना है। लोकमान्यके चरणोंमें अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि अपनी गहरी श्रद्धाके कारण मैं चढ़ा रहा हूं।

तिलकके विषयमें जब मैं कुछ कहने लगता हूं तो मुंहसे शब्द निकलना कठिन हो जाता है, गद्गद् हो उठता हूं। साधु-संतोंका नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है वही इस नामसे भी होती है। मैं अपने चित्तका भाव प्रकट ही नहीं कर सकता। उत्कट भावनाको शब्दोंमें व्यक्त करना कठिन होता है। गीताका भी नाम लेते ही मेरी यही स्थिति हो जाती है। मानो स्फूर्तिका संचार हो जाता है। भावनाओंको

प्रचंड बाढ़ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है। परंतु यह बड़प्पन मेरा नहीं है। बड़प्पन गीताका है। यही हाल तिलकके नामका है। मैं तुलना नहीं करता। क्योंकि तुलनामें सदा दोष आ आते हैं। परंतु जिनके नाम-स्मरणमें ऐसी स्फूर्ति देनेकी शक्ति है उन्हींमेंसे तिलक भी हैं। मानों उनके स्मरणमें ही शक्ति संचित है। रामनामको ही देखिए। कितने जड़ जीवोंका इस नामके स्मरणसे उद्धार हो गया, इसकी गिनती कौन करेगा? अनेक आंदोलन, अनेक ग्रंथ, इतिहास, पुराण—इनमेंसे किसी भी चीजका उतना प्रभाव न हुआ होगा जितना कि रामनामका हुआ है और हो रहा है। राष्ट्रोंका उदय हुआ और अस्त हुआ। राज्यों-का विकास हुआ और लय हुआ। किंतु रामनामकी सत्ता अबाधित-रूपसे विद्यमान है। तुलसीदासजीने कहा है "कहउं नाम बड़ राम तें।"—"हे राम, मुझे तुझसे तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समयके अयोध्यावासियोंने और उस जमानेके नर-वानरोंने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नहीं, लेकिन तेरा नाम है। जो महिमा तेरे नाममें है वह तेरे रूपमें नहीं। हे राम, तूने शबरी, जटायु आदिका उद्धार किया। लेकिन वे तो सुसेवक थे। इसमें तेरा बड़प्पन कुछ नहीं। परंतु तेरे नामने अनेक खलजनोंका उद्धार किया, यह वेद कहते हैं।"

"शबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद-बिदित गुनगाथ॥"

तुलसीदासजी कहते हैं, रामकी महिमा गानेवाले मूढ़ हैं। रामने तो बड़े-बड़े सेवकोंका ही उद्धार किया। परंतु नामने? नामने असंख्य जड़-मूढ़ोंका उद्धार किया। शबरी तो असामान्य स्त्री थी। उसका वैराग्य और उसको भक्ति कितनी महान् थी। वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवोंका, इन भक्तजनोंका रामने उद्धार किया। कौन बड़ी बात हुई? परंतु रामनाम तो दुर्जनोंको भी उबारता है। और दरअसल मुझे इसका अनुभव हो रहा है। मुझसे बड़ा खल दूसरा कौन हो सकता है? मेरे समान दुष्ट मैं ही हूं। मुझे इस विषयमें दूसरोंका मत जानने-

की जरूरत नहीं। नामसे उद्धार होता है। जिन्होंने पवित्र कर्म किये, अपना शरीर परमार्थमें खपाया, उनके नाममें ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसीमें मनुष्यकी विशेषता है। आहार-विहारादि दूसरी बातोंमें मनुष्य और पशु समान ही हैं। परंतु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशु-से भी नीच बन सकता है, उसी प्रकार पराक्रमसे, पौरुषसे वह परमात्मा के निकट भी जा सकता है। मनुष्यमें ये दोनों शक्तियां हैं। खूब मांस और अंडे वगैरह खाकर, दूसरे प्राणियोंका भक्षण कर वह शेरके समान हृष्ट-पुष्ट भी बन सकता है; या दूसरोंकेलिए अपना शरीर भी फेंक सकता है। मनुष्य अपनेलिए अनेकोंका घात करके पशु बन सकता है; या अनेकोंकेलिए अपना बलिदान कर पवित्रनामा भी बन सकता है। पशुकी शक्ति मर्यादित है। उसकी बुराईकी भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्यके पतनकी या ऊपर उठनेकी कोई सीमा नहीं है। वह पशुसे भी नीचे गिर सकता है। और इतना ऊपर चढ़ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जो गिरता है वही चढ़ भी सकता है। पशु अधिक गिर भी नहीं सकता इसलिए चढ़ भी नहीं सकता। मनुष्य दोनों बातोंमें परा-काष्ठा कर सकता है। जिन लोगोंने अपना जीवन सारे संसारकेलिए अर्पण कर दिया उनके नाममें बहुत बड़ी पवित्रता आ जाती है। उनका नाम ही तारेके समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते हैं, 'वसिष्ठं तर्पयामि', 'भारद्वाजं तर्पयामि', 'अत्रिं तर्पयामि' इन ऋषियोंके बारेमें हम क्या जानते हैं? क्या सात या आठ सौ पन्नों-में उनकी जीवनी लिख सकते हैं। शायद एकाध सफा भी नहीं लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वसिष्ठ यह नाम ही काफी है। यह नाम ही तारक है। और कुछ शेष रहे या न रहे, केवल नाम ही तारेके समान मार्ग-दर्शक होगा, प्रकाश देगा। मेरा विश्वास है कि सैंकड़ों वर्षोंके बाद तिलकका नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन-चरित्र आदि बहुत-सा नहीं रहेगा, किंतु इतिहासके आकाश में उनका नाम तारेके समान चमकता रहेगा।

हमें महापुरुषोंके चारित्र्यका अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्रका। दरअसल महत्त्व चारित्र्यका है। शिवाजी महाराजने सौ दो सौ किले बनवाकर स्वराज्य प्राप्त किया। इसलिए आज यह नहीं समझना चाहिए कि उसी तरह किले बनवानेसे स्वराज्य प्राप्त होगा। किंतु जिस वृत्तिसे उन्होंने अपना जीवन बिताया और लड़ाईकी वह वृत्ति, वे गुण हमें चाहिएं। जिस वृत्तिसे शिवाजीने काम किया उस वृत्तिसे हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समय-का रूप हमारे कामका नहीं है, उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं, चारित्र्य उपयोगी है। कर्त्तव्य करते हुए उनकी जो वृत्ति थी वह हमारेलिए आवश्यक है। उनके गुणोंका स्मरण आवश्यक है। इसीलिए तो हिंदुओंने चरित्रका बोझ छोड़कर नाम-स्मरणपर जोर दिया। इतने महान् व्यक्तियोंका सारा चरित्र दिमागमें रखनेकी कोशिश करें तो उसीके मारे दम घुटने लगे। इसीलिए केवल गुणोंका स्मरण करना है, चरित्रका अनुकरण नहीं।

एक कहानी मशहूर है। कुछ लड़कोंने 'साहसी यात्री' नामकी एक पुस्तक पढ़ी। फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तकमें लिखा है वैसा ही हम भी करें। उस पुस्तकमें बीस-पच्चीस युवक थे। ये भी जहां-तहांसे बीस-पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तकमें लिखा था कि वे एक जंगलमें गये। फिर क्या था? ये भी एक जंगलमें पहुंचे। पुस्तकमें लिखा था कि उन लड़कोंको जंगलमें एक शेर मिला। अब ये बेचारे शेर कहांसे लायें? आखिर, उनमें जो एक बुद्धिमान् लड़का था वह कहने लगा, "अरे भाई, हमने तो शुरूसे आखिरतक गलती ही की। हम उन लड़कोंकी नकल उतारना चाहते हैं। लेकिन यहां तो सब-कुछ उलटा ही हो रहा है। वे लड़के कोई पुस्तक पढ़कर थोड़े ही निकले थे मुसाफिरी करने! हमसे तो शुरू में ही गलती हुई।"

तात्पर्य यह कि हम चरित्रकी सारी घटनाओंका अनुकरण नहीं कर सकते। चरित्रका तो विस्मरण होना चाहिए। केवल गुणोंका स्मरण

पर्याप्त है। इतिहास तो भूलनेके लिए ही है और लोग उसे भूल भी जाते हैं। लड़कोंके ध्यानमें वह सब-का-सब रहता भी नहीं है। इसके लिए उनपर फ़ुजूल मार भी पड़ती है। इतिहाससे हमें सिर्फ गुण ही लेने चाहिए। जो गुण हैं उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए, श्रद्धापूर्वक याद रखना चाहिए। पूर्वजोंके गुणोंका श्रद्धापूर्वक स्मरण ही श्राद्ध है। यह श्राद्ध पावन होता है। आजका श्राद्ध मुझे पावन प्रतीत होता है। उसी प्रकार आपको भी अवश्य होता होगा।

तिलकका पहला गुण कौन-सा था? तिलक जातितः ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नहीं हैं वे भी उनका स्मरण कर रहे हैं। तिलक महाराष्ट्रके मराठे थे। लेकिन पंजाबके पंजाबी और बंगालके बंगाली भी उन्हें पूज्य मानते हैं। हिंदुस्तान तिलकका ब्राह्मणत्व और उनका मराठा-पन, सब-कुछ भूल गया है। यह चमत्कार है। इसमें रहस्य है—दोहरा रहस्य है। इस चमत्कारमें तिलकका गुण तो है ही, हमारे पूर्वजोंकी कमाईका भी गुण है। जनताका एक गुण और तिलकका एक गुण—दोनोंके प्रभावसे यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारतमें सभी जातियों-द्वारा पूजे जाते हैं। दोनोंके गुणकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए।

इस अवसरपर मुझे अहल्याकी कथा याद आ रही है। रामायणमें मुझे अहल्याकी कथा बहुत सुहाती है। रामका सारा चरित्र ही श्रेष्ठ है। और उसमें यह कथा तो बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नहीं कि हमारे अंदर राम (सत्त्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है, चाहे उसका किसीको पता हो या न हो। परंतु आज राष्ट्रमें राम है, क्योंकि अन्यथा यह जो थोड़ा-बहुत तेजका संचार देख पड़ता है वह न दिखाई देता। गहराईसे देखें तो आज रामका अवतार हो चुका है। यह जो रामलीला हो रही है इसमें कौन-सा हिस्सा लूं, किस पात्रका अभिनय करूं, यह मैं सोचने लगता हूं। रामकी इस लीलामें मैं क्या बनूं? लक्ष्मण बनूं? नहीं, नहीं। उनकी वह जागृति

वह भक्ति कहांसे लाऊं ? तो क्या भरत बनूं ? नहीं, भरतकी कर्त्तव्य-दक्षता, उत्तरदायित्वका बोध, उनकी दयालुता और त्याग कहांसे लाऊं ? हनुमानका तो नाम भी मानो रामका हृदय ही है । तो फिर गांठमें पुण्य नहीं है, इसलिए क्या रावण बनूं ? ऊंऽऽहूं । रावण भी नहीं बन सकता । रावणकी उत्कटता, महत्त्वाकांक्षा मेरे पास कहां है ? फिर मैं कौन-सा स्वांग लूं ? किस पात्रका अभिनय करूं ? क्या ऐसा कोई पात्र नहीं है जो मैं बन सकूं ? जटायु, शबरी ?—ये तो सुसेवक थे । अंतमें मुझे अहल्या नजर आई । अहल्या तो पत्थर बनकर बैठी थी ।

सोचा, मैं अहल्याका अभिनय करूं । जड़ पत्थर बनकर बैठूं । इतनेमें वह अहल्या बोल उठी, "सारी रामायणमें सबसे तुच्छ जड़-मूढ़ पात्र क्या मैं ही ठहरी ? अरे बुद्धिमान, क्या अहिल्याका पात्र सबसे निकृष्ट है ? मुझमें क्या कोई योग्यता ही नहीं ? अरे, रामकी यात्रामें तो अयोध्यासे लेकर रामेश्वरतक हजारों पत्थर थे, उनका क्यों नहीं उद्धार हुआ ? मैं कोई नालायक पत्थर नहीं हूं । मैं भी गुणी पत्थर हूं ।" अहल्याकी बात मुझे जंच गई । परंतु अहल्याके पत्थरमें गुण थे, तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थरकी नहीं । उसी प्रकार सारी महिमा रामके चरणोंकी भी नहीं । अहल्याके समान पत्थर और रामके चरणों-जैसे चरण, दोनोंका संयोग चाहिए । न तो रामके चरणोंसे दूसरे पत्थरों-का ही उद्धार हुआ, और न किसी दूसरेके चरणोंसे अहल्याका ही ।

इसे मैं अहल्या-राम-न्याय कहता हूं । दोनोंके मिलापसे काम होता है । यही न्याय तिलकके दृष्टांतपर घटित होता है । तिलकका ब्राह्मणत्व, महाराष्ट्रीयत्व आदि सब भूलकर सारा हिंदुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मनाता है । इस चमत्कारमें तिलकके गुण और जनताके गुण, दोनोंका स्थान है । इस चमत्कारके दोनों कारण हैं । कुछ गुण तिलकका है और कुछ उन्हें माननेवाली साधारण जनताका । हम इन गुणोंका जरा पृथक्करण करें ।

तिलकका गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारत-

वर्षका विचार किया। तिलकके फूल बंबईमें गिरे, इसलिए वहां उनके स्मारक-मंदिर होंगे। उन्होंने मराठीमें लिखा, इसलिए मराठी भाषामें उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलकने जहां कहीं जो-कुछ किया—चाहे जिस भाषामें क्यों न किया हो, वह भारतवर्षके लिए किया। उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूं, मैं महाराष्ट्रका हूं। उनमें पृथकता-की, भेदकी, भावना नहीं थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्षका विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियोंने सारे भारतवर्षका विचार किया, तिलक उनमेंसे एक थे। और दूसरे जो मेरी दृष्टिके सामने आते हैं वह थे महर्षि न्यायमूर्ति रानडे। तिलकने महाराष्ट्रको अपनी जेबमें रखा और सारे हिंदुस्तानके लिए लड़ते रहे। "हिंदुस्तानके हितमें मेरे महाराष्ट्रका भी हित है, इसीलिए पूनेका हित है, पूनेमें रहनेवाले मेरे परिवारका हित है और परिवारमें रहनेवाले मेरा भी हित है। हिंदुस्तानके हितका विचार करनेसे उसीमें महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मैं, सबके हितका विचार आ जाता है।" यह तत्त्व उन्होंने जान लिया था, और उसीके अनुसार उन्होंने काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थानमें करनी पड़ेगी। लेकिन उस मर्यादित स्थानमें रहकर की जानेवाली सेवाके पीछे जो वृत्ति रहेगी वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए।

शालग्राम मर्यादित हैं। लेकिन उसमें मैं जिस भगवान्के दर्शन करता हूं वह सर्वब्रह्मांडव्यापी, चर-अचर, जड़-चेतन सबमें निवास करनेवाला ही है। तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है। 'जलेस्थले तथा काष्ठे विष्णुः पर्वतमूर्धनि।' उस त्रिभुवन-व्यापक विष्णुको यदि वह पुजारी शालग्राममें न देखेगा तो उसकी पूजा निरा पागलपन होगी। सेवा करनेमें भी खूबी है, रहस्य है। अपने गांवमें रहकर भी मैं विश्वेश्वरकी सेवा करता हूं। दूसरेको न लूटते हुए जो सेवा की जाती है वह अनमोल हो सकती है, होती भी है।

तुकारामने अपना देहू नामक गांव नहीं छोड़ा। रामदास दस गांवोंमें बिचरे और सेवा करते रहे। फिर भी दोनोंकी सेवाका फल एक है, अनंत है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्मसे भी अपार मूल्य मिलता है। सुदामा मुट्ठीभर ही तंदुल लेकर गये थे लेकिन उन तंदुलोंमें प्रचंड शक्ति थी। सुदामाकी बुद्धि व्यापक थी। बहुत बड़ा कर्म करनेपर भी कुछ अभागोंको बहुत थोड़ा फल मिलता है। लेकिन सुदामा छोटे-से कर्मसे बहुत बड़ा फल प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि शुद्ध, निष्पाप, पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है, वह छोटी-सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान् होता है। मूल्य बहुत बड़ा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक सिद्धांत है। मांका पत्र दो ही शब्दोंका क्यों न हो, विलक्षण प्रभाव डालता है। वह प्रेमकी स्याहीसे पवित्रताके स्वच्छ कागजपर लिखा होता है। दूसरा कोई पोथा कितने ही सफेद कागजपर क्यों न लिखा हुआ हो, यदि उसकेमूलमें शुद्ध बुद्धि न हो, निर्मल बुद्धि न हो, जो कुछ लिखा गया है वह प्रेममें ढला हुआ न हो, तो सारा पोथा बेकार है।

परमात्माके यहां 'कितनी सेवा', यह पूछ नहीं है। 'कैसी सेवा', यह पूछ है। तिलक अत्यंत बुद्धिमान, विद्वान् नाना शास्त्रोंके पंडित थे, इसलिए उनकी सेवा अनेकांगी और बहुत बड़ी है। परंतु तिलकने जितनी कीमती सेवा की उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती सेवक भी कर सकता है। तिलककी सेवा विपुल और बहुअंगी थी तो भी उसका मूल्य और एक तुच्छ सेवककी सेवाका मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाड़ीभर ज्वार रास्तेसे जा रही हो लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेबमें रख सकता हूं। दस हजारका नोट अपनी जेबमें रख सकता हूं। उसपर सरकारी मुहरभर लगी हो। आपकी सेवापर व्यापकताकी मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे पर व्यापक दृष्टि और वृत्तिसे न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टिसे की हुई छोटी-सी सेवाकी अपेक्षा कम ही मानी जायगी। व्यापक वृत्तिसे

की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सब कोई सेवा कर सकें, इसीलिए परमात्माकी यह योजना है। चाहे जहां चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर संकुचित दृष्टिसे न कीजिए। उसमें व्यापकता भर दीजिए। यह व्यापकता आजके कार्यकर्ताओंमें कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्त्ता आज संकुचित दृष्टिसे काम करते हुए देख पड़ते हैं।

तिलककी दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्यमें मिठास और आनंद है। हिंदुस्तानके ही नहीं, बल्कि संसारके किसी भी समाजके वास्तविक हितका विरोध न करते हुए चाहे जहां सेवा कीजिए। चाहे वह एक गांवकी ही सेवा क्यों न हो, वह अनमोल है। परंतु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइए। फिर देखिए आपके कर्मोंमें कैसी स्फूर्तिका संचार होता है। कैसी बिजलीका संचार होता है। तिलकमें यही व्यापकता थी। 'मैं भारतीय हूं', यह शुरूसे ही उनकी वृत्ति रही। बंगालमें आंदोलन शुरू हुआ। उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की। बंगालका साथ देनेके लिए महाराष्ट्रको खड़ा किया। स्वदेशीका डंका बजवाया। "जब बंगाल लड़ाईके मैदानमें खड़ा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बंगालका दुःख है वह महाराष्ट्रका भी दुःख है।" ऐसी व्यापकता, सार्वराष्ट्रीयता तिलकमें थी। इसीलिए पूनेके निवासी होकर भी वे हिंदुस्तानके प्राण बन गये। सारे देशके प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्षके लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था। वह था जनताकी विशेषता। जनताका यह गुण कार्यकर्त्ताओं में भी है, क्योंकि वे भी तो जनताके ही हैं। लेकिन उनको खुद इस बातका पता नहीं है। तिलकके गुणके साथ जनताके गुणका स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने-आपको जनताके चरणोंकी धूल समझते थे। जनताके दोष जनताकी दुर्बलता, जनताकी त्रुटियां, सब-कुछ वे अपनी ही समझते थे। वे

जनतासे एकरूप हो गये थे, इसलिए जनताके गुणोंका स्मरण तिलकके गुणोंका स्मरण ही है।

यह जो जनताका गुण है वह हमारा कमाया हुआ नहीं है। हमारे महान्, पुण्यवान्, विशालदृष्टिवाले पूर्वजोंकी यह देन है। यह गुण मानो हमने अपनी मांके दूधके साथ ही पीया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजोंने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रांतका, किस जातिका है, यह देखनेके बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं, वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमें यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजोंने यहां आकर हमें देशाभिमान सिखाया। तब कहीं हम राष्ट्रीयतासे परिचित हुए। पर यह गलत है। एक-राष्ट्रीयताकी भावना अगर हमें किसीने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान् पूर्वजोंने। उन्हींकी कृपासे यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रर्षिने हमें यह सिखावन दी कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। 'दुर्लभं वंगेषु जन्म', 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म', ऐसा उन्होंने नहीं कहा। ऋषिने तो यही कहा कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। काशीमें गंगातटपर रहनेवालेको किस बातकी तड़प होती है? वह इसके लिए तड़पता है कि काशीकी गंगाकी बहंगी या कांवर भरकर कब रामेश्वरको चढ़ाऊं! मानो काशी और रामेश्वर उसके मकानका आंगन और पिछवाड़ा हो। वास्तवमें तो काशी और रामेश्वरमें पंद्रह सौ मीलका फासला है, परंतु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियोंने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आंगन पंद्रह सौ मीलका है। रामेश्वरमें रहनेवाला इसलिए तड़पता है कि रामेश्वरके समुद्रका जल काशी-विश्वेश्वरके मस्तकपर चढ़ाऊं। वह रामेश्वरका समुद्र-जल काशीतक ले जायगा। कावेरी और गोदावरीके जलमें नहानेवाला भी 'जयगंगे', 'हरगंगे' ही कहेगा। गंगा सिर्फ काशीमें ही नहीं, यहांपर भी है। जिस बर्त्तनमें हम नहानेके लिए पानी लेते हैं उसे भी गंगाजल (गंगालय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह। यह भारतीय भावना है।

यह भावना आध्यात्मिक नहीं, किन्तु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभं भारते जन्म' नहीं कहेगा। वह कुछ और ही कहेगा। जैसा कि तुकारामने कहा, 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्यें वास॥' (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होंने आत्माकी मर्यादाको व्यापक बना दिया। सारे दरवाजों, सारे किलोंको तोड़कर आत्मा को प्राप्त किया। तुकारामके समान महापुरुषोंने, जो आध्यात्मिक रंगमें रंगे हुए थे, अपनी आत्माको स्वतंत्र संचार करने दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावनासे प्रेरित होकर, सारे भेद-भावोंको पार कर जो सर्वत्र चिन्मयताके दर्शन कर सके वे धन्य हैं। लोग भी समझ गये कि ये सारे विश्वके हैं इनकी कोई सीमा नहीं है। परंतु 'दुर्लभं भारते जन्म' की जो कल्पना ऋषियोंने की वह आध्यात्मिक नहीं, राष्ट्रीय है।

वाल्मीकिने अपनी रामायणके प्रारंभिक श्लोकोंमें रामके गुणोंका वर्णन किया है। रामका गुणगान करते हुए राम कैसे थे इसका वे यों वर्णन करते हैं कि, 'समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'— "स्थिरता ऊपरवाले हिमालय जैसी और गांभीर्य पैरोंके निकटवाले समुद्र-जैसा।" देखिए, कैसी विशाल उपमा है। एक सांसमें हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतकके दर्शन कराये। पांच मील ऊंचा पर्वत और पांच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकिके रोम-रोममें राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण संस्कृतमें है तो भी सबकी आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्रमें प्रिय है उतनी ही मद्रासकी तरफ केरलमें भी है। श्लोकके एकही चरणमें उत्तर भारत और दक्षिणका समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है!

हमसे कोई पूछे कि तुम कितने हो, तो हम तुरंत बोल उठेंगे, हम पैंतीस करोड़ बहन-भाई हैं। अंग्रेजसे पूछो तो वह चार करोड़ बतलायेगा। फ्रांसीसी सात करोड़ बतलायेगा। जर्मन छः करोड़ बतलायेगा। बेल-

जियन साठ लाख बतलायेगा। यूनानी आध करोड़ बतलायेगा। और हम पैंतीस करोड़! ऐसा फर्क क्यों हुआ? हमने इन पैंतीस करोड़को एक माना। उन्होंने नहीं माना। सच पूछो तो जर्मनोंकी भाषा और फरांसीसियोंकी भाषा अधिक विसदृश नहीं है, जैसी मराठी और गुजराती। यूरोपकी भाषाएं लगभग एक-सी हैं। उनका धर्म भी समान है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंमें परस्पर रोटी-बेटी-व्यवहार भी होता है। लेकिन फिर भी उन्होंने यूरोपके अलग-अलग टुकड़े कर डाले! हिंदुस्तानके प्रांतोंने अपनेको अलग-अलग नहीं माना। यूरोपके लोगोंने ऐसा मान लिया। हिंदुस्तान भी तो रूसको छोड़ बाकीके सारे यूरोपके बराबर एक खंड (महाद्वीप) ही है। लेकिन हमने भारतको एक खंड, यानी अनेक देशोंका समुदाय न मानकर भारतवर्षके नामसे सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना।

उन अभागे यूरोपवासियोंने सारा यूरोप एक नहीं माना। उन्होंने यूरोपको एक खंड (महाद्वीप) माना। उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये। एक-एक टुकड़े को अपना मान लिया और एक दूसरेसे घनघोर युद्ध किये। पिछले महासमरको ही ले लीजिए। लाखों लोग मरे। वे एक दूसरेसे लड़े, मगर आपसमें नहीं लड़े। यह कुसूर उन्होंने नहीं किया। लेकिन हमने भारतको एक राष्ट्र मान लिया और हम आपसमें लड़े।

अंग्रेज या यूरोपीय इतिहासकार हमसे कहा करते हैं कि "तुम आपसमें लड़ते रहे, अंतस्थ कलह करते रहे।" आपसमें लड़ना बुरा है, यह तो मैं भी मानताहूं। लेकिन यह दोष स्वीकार करते हुए भी मुझे इस आरोपपर अभिमान है। हम लड़े, लेकिन आपसमें। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक हैं, यह बात इन इतिहासकारोंको भी मंजूर है। उनके आक्षेपमें ही यह स्वीकृति आ गई है। कहा जाता है कि यूरोपीय राष्ट्र एक दूसरेसे लड़े, लेकिन अपने ही देशमें आपसमें नहीं लड़े। लेकिन इसमें कौन-सी बड़ाई है। एक छोटे-से मानव-समुदायको अपना राष्ट्र कहकर यह शेखी बघारना कि हमारे अंदर एकता है, आपसमें फूट नहीं

है, कौन-सी बहादुरी है ? मान लीजिए कि मैंने अपने राष्ट्रकी 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर', इतनी संकुचित व्याख्या कर ली; तो आपसमें कभी युद्ध ही न होगा। हां, मैं ही अपने मुंहपर चटसे एक थप्पड़ जड़ दूं तो अलबत्ता लड़ाई होगी। परंतु 'मैं ही मेरा राष्ट्र हूं' ऐसी व्याख्या करके मैं अपने भाईसे, मांसे, किसीसे भी लड़ूं, तो भी यह आपसकी लड़ाई नहीं होगी, क्योंकि मैंने तो अपने साढ़े तीन हाथके शरीरको ही अपना राष्ट्र मान लिया है। सारांश, हम आपसमें लड़े यह अभियोग सही है, परंतु वह अभिमानास्पद भी है, क्योंकि इस अभियोगमें ही अभियोग लगानेवालेने यह मानलिया है कि हम एक हैं, हमारा एक ही राष्ट्र है। यूरोपके अभागोंने इस कल्पनाका विनाश किया। हमें उसकी शिक्षा दी गई है। इतना ही नहीं, वह हमारी रग-रगमें पैठ गई है। हम पुराने जमानेमें आपसमें लड़े, तो भी यह एकराष्ट्रीयताकी भावना आज भी विद्यमान है। महाराष्ट्रने पंजाबपर, गुजरात और बंगालपर चढ़ाइयां कीं, फिर भी यह एकराष्ट्रीयताकी, आत्मीयताकी भावना नष्ट नहीं हुई।

जनताके इस गुणकी बदौलत तिलक सब प्रांतोंमें प्रिय और पूज्य हुए। तिलक-गांधी तो अलौकिक पुरुष हैं। सब प्रांत उन्हें पूजेंगे ही। परंतु राजगोपाचार्य, जमनालालजी आदि तो साधारण मनुष्य हैं। लेकिन उनकी भी सारे प्रांतोंमें प्रतिष्ठा है। पंजाब, महाराष्ट्र, कर्नाटक उनका आदर करते हैं। हमें उसका पता भले ही न हो, लेकिन एकराष्ट्रीयताका यह महान गुण हमारे खूनमें ही घुल-मिल गया है। हमारे यहां एक प्रांतका नेता दूसरे प्रांतमें जाता है लोगोंके सामने अपने विचार रखता है। क्या यूरोपमें यह कभी हो सकता है ? जरा जाने दीजिए मुसोलिनीको रूसमें फासिज्मपर व्याख्यान देने। लोग उसे पत्थर मार-मारकर कुचल डालेंगे या फांसीपर लटका देंगे। हिटलर और मुसोलिनी जब मिलते हैं तो कैसा जबरदस्त बंदोबस्त किया जाता है, कैसी चुपचाप गुप्त रूपसे मुलाकात होती है। मानो दो खूनी आदमी किसी

साजिशके लिए एक-दूसरे से मिल रहे हैं। किले परकोटे, दीवारें सब तरफ खड़ी करके सारे यूरोपमें द्वेष और मत्सर फैला दिया है इन लोगोंने। पर हिंदुस्तानमें ऐसी बात नहीं है। तिलक-गांधीको छोड़ दीजिए। ये लोकोत्तर पुरुष हैं। किंतु दूसरे साधारण लोगोंका भी सर्वत्र आदर होता है। लोग उनकी बातें ध्यानसे सुनते हैं। ऐसी राष्ट्रीय भावना ऋषियोंने हमें सिखाई है। समाज और जनतामें सर्वत्र इसका असर मौजूद है। अज्ञात रूपसे वह हमारी नस-नसमें विद्यमान है।

हमें इस गुणका पता नहीं था। आइए, अब ज्ञानपूर्वक हम उससे परिचय कर लें। आज तिलकका स्मरण सर्वत्र किया जायगा। उनके ब्राह्मण होते हुए भी, महाराष्ट्रीय होते हुए भी, सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी, क्योंकि तिलककी दृष्टि व्यापक थी। वह सारे भारतवर्षका विचार करते थे। वह सारे हिंदुस्तानसे एकरूप हो गये थे। यह तिलककी विशेषता है। भारतकी जनता भी प्रांताभिमान आदिका खयाल न करती हुई गुणोंको पहचानती है। यह भारतीय जनताका गुण है। इन दोनोंके गुणोंका यह चमत्कार है कि तिलकका सर्वत्र सब लोग स्मरण कर रहे हैं। जैसे एक ही आमकी गुठलीसे पेड़, शाखा और आम पैदा होते हैं उसी प्रकार एक ही भारत माताके बाह्यतः जुदा-जुदा पुत्र दिखाई देते हैं—कोई क्रोधी, कोई स्नेही। फिर भी मीठे और मुलायम आम जिस गुठली से पैदा होते हैं उसीसे पेड़का कठिन-धड़ भी पैदा होता है। इसी तरह हम ऊपरसे कितने ही भिन्न क्यों न दिखाई दें, तो भी हम एक ही भारतमाताकी संतान हैं, यह कदापि न भूलना चाहिए! इसे ध्यानमें रखकर प्रेम-भाव बढ़ाते हुए सेवकोंको सेवाके लिए तैयार होना चाहिए। तिलकने ऐसी ही सेवा की। आशा है, आप भी करेंगे।

१-८-४६]

: ३८ :

निर्भयताके प्रकार

निर्भयता तीन प्रकारकी होती है—विज्ञ निर्भयता, ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, विवेकी निर्भयता। 'विज्ञ' निर्भयता वह निर्भयता है जो खतरोंसे परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेनेसे आती है। यह जितनी प्राप्त हो सकती हो उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी सांपोंसे जान-पहचान हो गई, निर्विष और सविष सांपोंका भेद जिसने जान लिया, सांप पकड़नेकी कला जिसे सिद्ध हो गई, सांप काटनेपर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम हो गये, सांपसे बचनेकी युक्ति जिसे विदित हो गई, वह सांपोंकी तरफसे काफी निर्भय हो जायगा। अवश्य ही यह निर्भयता सांपोंतक ही सीमित रहेगी। हरएकको शायद वह प्राप्त न हो सके, लेकिन जिसे सांपोंमें रहना पड़ता है उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोगकी चीज है। क्योंकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है वह मनुष्यको अस्वाभाविक आचरणसे बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी यानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, मनुष्यको पूर्ण निर्भय बनाती है। परंतु दीर्घ प्रयत्न, पुरुषार्थ, भक्ति इत्यादि साधनोंके सतत अनुष्ठानके बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब वह प्राप्त होगी तो किसी अवांतर सहायताकी जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी, विवेकी निर्भयता है। वह मनुष्यको अनावश्यक और ऊटपटांग साहस नहीं करने देती। और फिर भी अगर खतरेका सामना करना ही पड़े तो विवेकसे बुद्धि शांत रखना सिखाती है। साधकको

चाहिए कि वह इस विवेकी निर्भयताकी आदत डालनेका प्रयत्न करे। वह हरएककी पहुंचमें है।

मान लीजिए कि मेरा शेरसे सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है। संभव है कि मेरी मृत्यु अभी बदी ही न हो। अगर बदी हो तो वह टल नहीं सकती। परंतु यदि मैं भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शांत रखनेका प्रयत्न करूं तो बचनेका कोई रास्ता सूझनेकी संभावना है। या ऐसा कोई उपाय न सूझे तो भी अगर मैं अपना होश बनाये रखूं तो अंतिम समयमें हरि-स्मरण कर सकूंगा। ऐसा हुआ तो यह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निर्भयता दोनों तरहसे लाभदायी है। और इसीलिए वह सबके प्रयत्नोंका विषय होने योग्य है।

[अक्टूबर, १९४०

: ३९ :

आत्मशक्तिका अनुभव

आप सब जानते हैं कि आज गांधीजीका जन्म-दिन है। ईश्वरकी कृपासे हमारे इस हिंदुस्तानमें गांधीजी-जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति इससे पहले भी हुए हैं। ईश्वर हमारे यहां समय-समयपर ऐसे अच्छे व्यक्ति भेजता आया है। आइए, हम ईश्वरसे प्रार्थना करें कि हमारे देशमें सत्पुरुषोंकी ऐसी ही अखंड परंपरा चलती रहे।

मैं आज गांधीजीके विषयमें कुछ न कहूंगा। अपने नामसे कोई उत्सव हो, यह उन्हें पसंद नहीं है। इसलिए उन्होंने इस सप्ताहको खादी-सप्ताह नाम दिया है। अपनेसे संबंध रखनेवाले उत्सवको कोई प्रोत्साहन नहीं दे सकता, परंतु गांधीजी इस उत्सवको प्रोत्साहन दे सकते हैं, । कारण, यह उत्सव एक सिद्धांतके प्रसारके लिए, एक विचारके विस्तारके लिए मनाया जाता है।

गांधीजी किसी ज्ञानी पुरुषके एक कथनका जिक्र किया करते हैं, जिसका आशय यह है कि किसी भी व्यक्तिका जीवन जबतक समाप्त नहीं हो जाता तबतक उसके विषयमें मौन रहना ही उचित है। मुझे तो व्यक्तिका स्थूल चरित्र भूलजाने-जैसी ही बात मालूम होती है। मनुष्य ईश्वरकी लिखी हुई एक चिट्ठी है, एक संदेश है। चिट्ठीका मज-मून देखना चाहिए। उसकी लंबाई-चौड़ाई और वजन देखनेसे मतलब नहीं है।

अभी यहां जो कार्यक्रम रहा उसमें लड़कोंने खासा उत्साह दिखाया। ऐसे कार्यक्रमोंमें लड़के हमेशा उत्साह और आनंदसे शरीक होते हैं।

परंतु जो प्रौढ़ लोग यहां इकट्ठे हुए उन्होंने एकत्र बैठकर उत्साहसे सूत काता, यह कार्यक्रमका बहुत सुंदर अंग है । सालभरमें कई त्योहार आते हैं, उत्सव भी होते हैं। हम उस दिनके लिए कोई-न-कोई कार्यक्रम भी बना लेते हैं, परंतु उसी दिनके लिए कार्यक्रम बनानेसे हम उस उत्सवसे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। ऐसे अवसरोंपर शुरू किया हुआ कार्यक्रम हमें सालभर चलाना चाहिए। इसलिए यहां एकत्र हुई मंडलीको मैंने यह सुझाया कि वे लोग आजसे अगले सालके इसी दिन-तक रोज आध घंटा नियमित रूपसे कातनेका संकल्प करें । अगर आप ऐसा शुभ निश्चय करेंगे तो उस निश्चयको पूरा करनेमें ईश्वर आपकी हर तरहसे सहायता करेगा । ईश्वर तो इसके इंतजारमें ही रहता है कि कौन कब शुभ निश्चय करे और कब उसकी मदद करनेका सुयोग मुझे मिले । रोज नियमित रूपसे सूत कातिए । लेकिन इतना ही काफी नहीं है । उसका लेखा भी रखना चाहिए। यह लेखा लोगोंके लिए नहीं रखना है, अपने दिलको टटोलनेके लिए रखना है। निश्चय छोटा-सा ही क्यों न हो, मगर उसका पालन पूरा-पूरा होना चाहिए। हम ऐसा करेंगे तो उससे हमारा संकल्प-बल बढ़ेगा । यह शक्ति हमारे अंदर भरी हुई है, लेकिन हमें उसका अनुभव नहीं होता । आत्म-शक्तिका अनुभव हमें नहीं होता, क्योंकि कोई-न-कोई संकल्प करके उसे पूरा करनेकी आदत हम नहीं डालते । छोटे-छोटे ही संकल्प या निश्चय कीजिए और उन्हें कार्यान्वित कीजिए तब आत्म-शक्तिका अनुभव होने लगेगा ।

दूसरी बात यह है कि गांवमें जो काम हुआ है उसके विवरणसे यह पता चलता है कि वे ही लोग काम करते हैं जिन्हें इस काममें शुरू-से दिलचस्पी रही । हमें इसकी जांच करनी चाहिए कि दूसरे लोग इसमें क्यों नहीं शामिल होते। कातनेवाले कातते हैं इतना ही काफी नहीं है । इसका भी विचार करना चाहिए कि न कातनेवाले क्यों नहीं कातते । हमने अपना फर्ज अदा कर दिया इतना काफी है, ऐसा कहनेसे काम नहीं चलेगा । इसका भी चिंतन करना चाहिए कि यह चीज गांव-

भरमें कैसे फैलेगी ? इसमें असली दिक्कत यह है कि हम शायद ही कभी ऐसा मानकर व्यवहार करते हों कि सारा गांव एक है। जब आग लग जाती है, बाढ़ आती है या कोई छूतकी बीमारी फैलने लगती है, तभी सारे गांवका विचार करते हैं। लेकिन यह तो अपवाद हुआ। हमारे नित्यके व्यवहारमें यह बात नहीं पाई जाती। जब किसीका स्पर्श-ज्ञान बिलकुल नष्ट होनेवाला होता है तो उसे मामूली स्पर्श मालूम ही नहीं पड़ता। जोरसे चुटकी काटिए तो थोड़ा-सा पता चलता है। यही हाल हमारा है। हमारा आत्म-ज्ञान बिलकुल मरणोन्मुख हो गया है।

पशुओंका आत्म-ज्ञान उनकी देहतक सीमित रहता है। वे अपनी संतानको भी नहीं पहचानते। अलबत्ता मादाको कुछ दिनोंतक यह ज्ञान होता है, क्योंकि उसे दूध पिलाना पड़ता है। लेकिन यह पहचान भी तभीतक होती है जबतक वह दूध पिलाती रहती है। उसके बाद अक्सर वह भी भूल जाती है। नरको तो उतनी भी पहचान नहीं होती। कुछ जानवरोंमें तो बाप अपने बच्चोंको खा ही जाता है। मनु- अपने बाल-बच्चोंको पहचानता है, इसलिए वह पशुसे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। कौन-सा प्राणी कितना श्रेष्ठ है, इसका निश्चय उसके आकारसे होता है। उसकी आत्म-रक्षाकी शक्ति या युक्तिसे भी इसका पता नहीं चलता। उसका आत्म-ज्ञान कितना व्यापक है, इसीसे उसके बड़प्पनका हिसाब लगाया जा सकता है। दूसरे प्राणियोंका आत्म-ज्ञान उनके शरीरतक ही रहता है। जंगली मानी गई जातिके मनुष्यमें भी वह कम-से-कम उनके परिवारतक व्यापक होता है। जितनी कमाई होती है वह सारे घरकी मानी जाती है। कुछ कुटुंबोंमें तो यह कौटुं- बिक प्रेम भी नहीं होता। भाई-भाई, पति-पत्नी और बाप-बेटोंमें झगड़े- टंटे होते रहते हैं।

हिंदुस्तानमें फिर भी कौटुंबिक प्रेम थोड़ा-बहुत पाया जाता है। लेकिन कुटुंबसे बाहर वह बहुत कम मात्रामें है। जब कोई भारी आपत्ति आ पड़ती है तो उतने समयके लिए सारा गांव एक हो जाता

है। आम तौरपर कुटुंबसे बाहर देखनेकी वृत्ति नहीं है। इसका यह मतलब हुआ कि हिंदुस्तानका आत्म ज्ञान मौतकी तरफ बढ़ रहा है; इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि समूचे गांवको एक इकाई मानकर सारे गांवकी चिंता कीजिए। यह गोपालकृष्णका मंदिर कौन-सा सन्देश सुनाता है ? इस मंदिरका मालिक गोपालकृष्ण है। उसके पास उसके सब बालकोंको जानेकी इजाजत होनी चाहिए। यह मंदिर हरिजनोंके लिए खोलकर आपने इतना काम किया है। किंतु मंदिर खोलनेका पूरा अर्थ समझकर, 'इस गोपालकृष्णकी छत्र-छायामें यह सारा गांव एक है,' ऐसी भावनाका विकास कीजिए।

गांवकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजें गांवमें ही बननी चाहिए। अगर हम ऐसी चीजें बाहरसे लाने लगेंगे तो बाहरके लोगोंपर जुल्म होगा। जापानकी मिलों और कारखानोंमें मजदूरोंको बारह-बारह घंटे काम करना पड़ता है। कम-से-कम मजदूरीमें उनसे ज्यादा-से-ज्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किसलिए करते हैं ? हिंदुस्तानके बाजार अपने हाथमें रखनेके लिए। मगर उनकी भाषामें "हमारी आवश्यकताएं पूरी करनेके लिए।" यह वहांके मालदार पूंजीपति करते हैं। वहांके गरीबका इसमें कोई फायदा नहीं। वहांके मालदार आदमियोंका भी कल्याण इसमें नहीं है और हमारा तो हरगिज नहीं है। हमारे द्वारा उनका माल खरीदनेसे उन्हें जो पैसा मिलता है उसका वे कैसा उपयोग करते हैं ? उस पैसेसे वे बम बनाते हैं। उनकी बदौलत वे आज चीनको हरा रहे है। इंग्लैंड, जर्मनी आदि राष्ट्रोंका भी यही कार्यक्रम है। बाहरका माल खरीदकर हम इस प्रकार दुर्जनोंका लोभ बढ़ाते हैं, शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद बनानेके लिए पैसा देते हैं। इसका उपयोग राष्ट्र-के-राष्ट्र वीरान कर देनेके लिए हो रहा है।

बीस-बीस हजार फुटकी ऊंचाईपरसे बम गिराये जाते हैं। जर्मन लोग बड़े गर्वसे कहते हैं कि "हमने लंदनको बेचिराग कर दिया।" अंग्रेज कहते हैं, "हमने बर्लिनको भून डाला।" और हम लोग समा-

चारपत्रोंमें ये सब खबरें पढ़-पढ़कर मजे लेते हैं। औरतें और बच्चे मर रहे हैं। मंदिर, विद्यालय और दवाखाने जमींदोज हो रहे हैं। लड़नेवाले और न लड़नेवालोंमें कोई फर्क नहीं किया जाता। क्या इन लड़नेवालों-को हम पापी कहें? लेकिन हम पुण्यवान् कैसे साबित हो सकते हैं? हम ही तो उनका माल खरीदते हैं?

इस प्रकार हम दुर्जनोंको उनके दुष्ट कार्यमें सक्रिय सहायता देते हैं। यह कहना व्यर्थ है कि हम तो सिर्फ अपनी जरूरतकी चीजें खरी-दते हैं; हम किसीकी मदद नहीं करते। खरीदना और बेचना केवल मामूली व्यवहार नहीं है। उनमें भी परस्पर दान है। हम जो खरीदार हैं और वे जो बेचनेवाले हैं, दोनों एक दूसरेकी मदद करते हैं। हम परस्परके सहयोगी हैं। एक दूसरेके पाप-पुण्यमें हमारा हिस्सा है। अमेरिका नकद सोना लेकर इंग्लैंडको सोना बेचता है, तो भी यह माना जाता है कि वह इंग्लैंडकी मदद करता है और अंग्रेज इस सहा-यताकेलिए उसका उपकार मानते हैं। व्यापार-व्यवहारमें भी पाप-पुण्यका बड़ा भारी सवाल है। बैंकवाला हमें व्याज देता है, लेकिन हमारे पैसे किसी व्यापारमें लगाता है। बैंकमें पैसे रखनेवाला उसके पाप-पुण्यका हिस्सेदार होता है। जिसका उपयोग पापकेलिए होता हो ऐसी कोई भी मदद करना पाप ही है। इसलिए अपने गांवकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजें बनानेका काम भी दूसरोंको सौंपनेका मतलब यह है कि हम खुद परावलंबन और आलस्यका पाप करते हैं और दूसरोंको भी पापमें डालनेमें सहायता करते हैं।

हिंदुस्तान और चीन दोनों बहुत बड़े देश हैं। उनकी जन-संख्या ८९ करोड़, यानी संसारकी जन-संख्याके आधेसे कुछ ही कम है। इतने बड़े देश हैं, लेकिन सिवा नाजके इनमें और क्या उत्पन्न होता है? ये दो विराट् लोक-संख्यावाले देश गैरमुल्कोंके मालके खरीदार हैं। चीनमें तो फिर भी कुछ माल तैयार होता है, पर हिंदुस्तानमें वह भी नहीं होता। हिंदुस्तान सर्वथा परावलंबी है। हम समझते हैं कि हम तो

अपनी जरूरतकी चीजें खरीदते हैं; हमसे मिले हुए पैसेका उपयोग जो लोग पापमें करते होंगे वे पापी हैं, हम कैसे पापी हुए? बौद्धधर्मावलंबी स्वयं जानवरोंको मारना हिंसा समझते हैं; लेकिन कसाईके मारे हुए जानवरका मांस खानेमें वे हिंसा नहीं मानते। उसी प्रकारका विचार यह भी है। हमें ऐसे भ्रममें नहीं रहना चाहिए। गांधीजी जब यह कहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योगके द्वारा प्रत्येक गांवको स्वावलंबी बनना चाहिए तब वे हर एक गांवको सुखी बनाना चाहते हैं और साथ-साथ दुर्जनोंसे लोगोंपर जुल्म करनेकी शक्ति भी छीन लेना चाहते हैं। इस उपायसे दुर्जन और उन्हें शक्ति देनेवाले आलसी लोग, दोनों पुण्यके रास्तेपर आयेंगे।

हम अपने पैरोंपर खड़े रहनेमें किसीसे द्वेष नहीं करते। अपना भला करते हैं। अगर हम लंकाशायर, जापान या हिंदुस्तानकी मिलोंका कपड़ा न खरीदें तो मिलवाले भूखों न मरेंगे। उनका पेट तो पहले हीसे भरा हुआ है। बुद्धिमान् होनेके कारण वे दूसरे कई धंधे भी कर सकते हैं। लेकिन हम किसान ग्रामोद्योग खो बैठनेके कारण उत्तरोत्तर कंगाल हो रहे हैं। इसके अलावा बाहरका माल खरीदकर हमने दुर्जनोंका बल बढ़ाया है। दुर्जन संघटित होकर आज दुनियापर राज कर रहे हैं। इसकेलिए हम सब तरहसे जिम्मेदार हैं।

वास्तवमें ईश्वरने दुर्जनोंकी कोई अलग जाति नहीं पैदा की है। जब द्रव्य-संग्रहकी धुन सवार हो जाती है तब जन्मसिद्ध सज्जन भी धीरे-धीरे दुर्जन बनने लगता है। अगर हम स्वावलंबी हो गये, हमारे गांव अपने उद्योगके बल अपने पैरोंपर खड़े हो सके, तो सज्जनको दुर्जन बनानेवाली लोभ-वृत्तिकी जड़ें ही उखड़ जायंगी और आज जो सत्ताधारी बनकर बैठे हैं उनकी लोगोंपर जुल्म करनेकी शक्ति निन्यानवें फीसदी गायब हो जायगी। "लेकिन जुल्म करनेकी जो एक प्रतिशत शक्ति शेष रह जायगी उसका क्या इलाज है?" निन्यानवें प्रतिशत नष्ट हो जानेके बाद बाकी रहा हुआ एक प्रतिशत अपने-आप मुरझा जायगा। लेकिन

जैसे चिराग बुझनेके वक्त ज्यादा भभकता है उसी तरह अगर यह एक प्रतिशत जोर मारे तो हमें उसका प्रतिकार करना पड़ेगा।

इसके लिए सत्याग्रहके शस्त्रका आविष्कार हुआ है। दुर्जनोंसे हमें द्वेष नहीं करना है, पर दुर्जनताका प्रतिकार अपनी पूरी ताकतसे करना है। आजतक दुर्जनोंको सत्ता जो संसारमें चलती रही इसका सबब यह है कि लोग दुर्जनोंके साथ व्यवहार करनेके दो ही तरीके जानते थे। 'लोग' शब्दसे मेरा मतलब है 'सज्जन कहे जानेवाले लोग।' या तो वे 'झगड़ेका मुंह काला' कहकर निष्क्रिय होकर बैठ जाना जानते थे, या फिर दुर्जनोंसे दुर्जन होकर लड़ते थे। जब मैं दुर्जनसे उसीका शस्त्र लेकर लड़ने लगता हूं तो उसमें और मुझमें जो भेद है उसे बतानेका इसके सिवा दूसरा तरीका ही नहीं है कि मैं अपने माथेपर 'सज्जन' शब्द लिखकर एक लेबिल चिपका लूं; और जब मैं उसका शस्त्र बरतता हूं तो अपने शस्त्रके प्रयोगमें वही अधिक प्रवीण होगा, अर्थात् मेरी किस्मतमें पराजय तो लिखी ही है। या फिर मुझे सवाया दुर्जन बनकर उसको मात करना चाहिए। जो थोड़े-बहुत सज्जन थे वे इस 'दुष्ट-चक्र'से डरकर निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाते थे। इन दोनों पगडंडियोंको छोड़कर हमें सत्याग्रहसे यानी स्वयं कष्ट सहकर, अन्यायका प्रतिकार करना चाहिए और अन्याय करनेवालोंके प्रति प्रेमभाव रखना चाहिए, ऐसा यह अभंग शस्त्र हमें प्राप्त हुआ है। इसी शस्त्रका वर्णन करते हुए ज्ञानदेवने कहा है, "अगर मित्रतासे ही वैरी मरता हो तो नाहक कटार क्यों बांधें?" गीता कहती है, "आत्मा अमर है, मारनेवाला बहुत करेगा तो हमारे शरीरको मारेगा; हमारी आत्माको, हमारे विचारको वह नहीं मार सकता।" यह गीताकी सिखावन ध्यानमें रखते हुए सज्जनोंको निर्भयता और निर्वैर बुद्धिसे प्रतिकारके लिए तैयार हो जाना चाहिए।

दुर्जनोंकी निन्यानवें प्रतिशत शक्ति नष्ट करनेका काम खादी और ग्रामोद्योगोंका है। निन्यानवें प्रतिशत जनताके लिए यही कार्यक्रम है। शेष एक प्रतिशत काम अहिंसक प्रतिकारका है। यदि पहला सुधार

रूपसे हो जाय तो दूसरेकी जरूरत ही न पड़नी चाहिए। और अगर जरूरत पड़े ही तो उसके लिए जन-संख्याके एक प्रतिशतकी भी आवश्यकता न होनी चाहिए। थोड़ेसे निर्भय, निर्वैर और आत्मज्ञ पुरुषों द्वारा यह काम हो सकता है। मैं समझता हूं इन बातोंमें गांधी-जयंतीका सारा सार आ जाता है। [२-१०-४०

: ४० :

सेवा का आचार धर्म

सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु ।
सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहै । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

मैंने आज अपने भाषणका आरंभ जिस मंत्रसे किया है वह मंत्र हमारे देशके लोग पाठशालामें अध्ययन शुरू करते समय पढ़ा करते थे! मंत्र गुरु और शिष्यके मिलकर कहनेके लिए है। "परमात्मा हम दोनों-का एक साथ रक्षण करे। एक साथ पालन करे। हम दोनों जो कुछ सीखें वह, हम दोनोंकी शिक्षा, तेजस्वी हो। हम दोनोंमें द्वेष न रहे। और सर्वत्र शांति रहे।" यह इस मंत्रका संक्षिप्त अर्थ है। आश्रममें भोजनके प्रारंभमें यही मंत्र पढ़ा जाता है। अन्यत्र भी भोजन आरंभ करते समय इसे पढ़नेकी प्रथा है। "इस मंत्रका भोजनसे क्या संबंध है? इसके बदले कोई दूसरा भोजनके समय पढ़ने योग्य मंत्र क्या खोजा ही नहीं जा सकता?" यह सवाल एक बार बापूसे किया गया था। उन्होंने वह मेरे पास भेज दिया था। मैंने एक पत्रमें उसका विस्तारसे उत्तर दिया है। वही मैं थोड़ेमें यहां कहनेवाला हूं।

इस मंत्रमें समाज दो भागोंमें बांटा गया है और ऐसी प्रार्थना की गई है कि परमात्मा दोनोंका एक साथ रक्षण करे। भोजनके समय इस मंत्रका उच्चार अवश्य करना चाहिए; क्योंकि हमारा भोजन केवल पेट भरनेकेलिए ही नहीं है, ज्ञान और सामर्थ्यकी प्राप्तिकेलिए है। इतना ही नहीं, इसमें यह भी मांग की गई है कि हमारा वह ज्ञान, वह

सामर्थ्य और वह भोजन भगवान् एक साथ कराये। इसमें केवल पालनकी प्रार्थना नहीं है। एक साथ पालनकी प्रार्थना है। पाठशालामें जिस प्रकार गुरु और शिष्य होते हैं उसी प्रकार सर्वत्र द्वैत है। परिवारमें पुरानी और नई पीढ़ी, समाजमें स्त्री-पुरुष, वृद्ध-तरुण, शिक्षित-अशिक्षित आदि भेद हैं। उसमें फिर गरीब अमीरका भेद भी है। इस प्रकार सर्वत्र भेद-दृष्टि आती है। हमारे इस हिंदुस्तानमें तो असंख्य भेद हैं। यहां प्रांत-भेद है। यहांका स्त्री-वर्ग बिलकुल अपंग रहता है। इसलिए यहां स्त्री-पुरुषमें भी बहुत बड़ा भेद है। हिंदू और मुसलमानका भेद तो प्रसिद्ध ही है। परंतु हिंदू-हिंदूमें भी, हरिजनों और दूसरोंमें भेद है। हिंदुस्तानकी तरह ये भेद संसारमें भी हैं। इसलिए इस मंत्रमें यह प्रार्थना की गई है कि हमें "एक साथ तार, एक साथ मार।"-मारनेकी प्रार्थना प्रायः कोई नहीं करता। इसलिए यहां एक साथ तारनेकी प्रार्थना है। लेकिन "यदि मुझे मारना ही हो तो कम-से-कम एक साथ मार", ऐसी प्रार्थना है। सारांश, "हमें दूध देना है तो एक साथ दे, सूखी रोटी देना है तो भी एक साथ दे, हमारे साथ जो कुछ करना है वह सब एक साथ कर", ऐसी प्रार्थना इस मंत्रमें है।

देहातके लोग यानी किसान और शहराती, गरीब और अमीर, इनका अंतर जितना कम होगा उतना ही देशका कदम आगे बढ़ेगा। अंतर दो तरहसे मेटा जा सकता है। ऊपरवालोंके नीचे उतरनेसे और नीचेवालोंके ऊपर चढ़नेसे। परंतु दोनों ओरसे यह नहीं होता। हम सेवक कहलाते हैं लेकिन किसान-मजदूरोंकी तुलनामें तो चोटीपर ही हैं।

लेकिन सवाल तो यह है कि भोग और ऐश्वर्य किसे कहें ? मैं अच्छा स्वादिष्ट भोजन करूं और पड़ोसमें ही दूसरा भूखों मरता रहे, इसे ? उसकी नजर बराबर मेरे भोजन पर पड़ती रहे और मैं उसकी परवाह न करूं ? उसके आक्रमणसे अपनी थालीकी रक्षा करनेकेलिए एक डंडा लेकर बैठूं ? मेरा स्वादिष्ट भोजन और डंडा तथा उसकी भूख, इसे ऐश्वर्य मानें ? एक सज्जन आकर मुझसे कहने लगे कि "हम

सभ्यताका लक्षण नहीं है; बल्कि आवश्यकताओंका संस्करण सभ्यताका लक्षण है। तो भी मैं कहता हूं कि देहातियोंकी आवश्यकताएं बढ़ानी चाहिएं। उन्हें सुधारना भी चाहिए। लेकिन उनकी आवश्यकताएं आज तो पूरी भी नहीं होतीं। उनका रहन-सहन बिलकुल गिरा हुआ है। उनके जीवनका मान बढ़ाना चाहिए। मोटे हिसाबसे तो यही कहना पड़ेगा कि आज हमारे गरीब देहातियोंकी आवश्यताएं बढ़ानी चाहिएं।

यदि हम गांवोंमें जाकर बैठे हैं तो हमें इसकेलिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियोंका रहन-सहन ऊपर उठे और हमारा नीचे उतरे। लेकिन हम जरा-जरा-सी बातें भी तो नहीं करते। महीना-डेढ़-महीना हुआ, मेरे पैरमें चोट लग गई। किसीने कहा उसपर मरहम लगाओ। मरहम मेरे स्थानपर आ भी पहुंचा। किसीने कहा, मोम लगाओ, उससे ज्यादा फायदा होगा। मैंने निश्चय किया कि मरहम और मोम दोनों आखिर मिट्टीके ही वर्गके तो हैं। इसलिए मिट्टी लगा ली। अभी पैर बिलकुल अच्छा नहीं हुआ है। लेकिन अब मजेमें चल सकता हूं। हमें मरहम जल्दी याद आता है, लेकिन मिट्टी लगाना नहीं सूझता। कारण, उसमें हमारी श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं।

हमारे सामने इतना बड़ा सूर्य खड़ा है। उसे अपना नंगा शरीर दिखानेकी हमें बुद्धि नहीं होती। सूर्यके सामने अपना शरीर खुला रखो, तुम्हारे सारे रोग भाग जायंगे। लेकिन हम अपनी आदत और शिक्षा से लाचार हैं। डाक्टर जब कहेगा कि तुम्हें तपेदिक हो गया तब वही करेंगे।

हम अपनी जरूरतें किस प्रकार कम कर सकेंगे, इसकी खोज करनी चाहिए। मैं यहां संन्यासीका धर्म नहीं बतला रहा हूं। खासे सद्‌गृहस्थ-का धर्म बतला रहा हूं। ठंडी आब-हवावाले देशोंके डाक्टर कहते हैं कि बच्चोंकी हड्डियां बढ़ानेकेलिए उन्हें "कॉड लिवर आयल" दो। जहां सूर्य नहीं है ऐसे देशोंमें दूसरा उपाय ही नहीं है। काड लिवरके बिना बच्चे मोटे-ताजे नहीं होंगे। यहां सूर्यदर्शनकी कमी नहीं। यहां यह

"महा कॉड लिवर आयल" भरपूर है। लेकिन हम उसका उपयोग नहीं करते। यह हमारी दशा है। हमें लंगोटी लगानेमें शर्म आती है। छोटे बच्चों पर भी हम कपड़ेकी बाइंडिग (जिल्द) चढ़ाते हैं। नंगे बदन रहना असभ्यताका लक्षण माना जाता है। वेदोंमें प्रार्थना की गई है कि "मा नः सूर्यस्य सदृशो युयोथाः।" हे ईश्वर, मुझे सूर्य-दर्शनसे दूर न रख।" वेद और विज्ञान दोनों कहते हैं कि खुले शरीर रहो। कपड़ेकी जिल्दमें कल्याण नहीं। हम अपने आचारसे ये विनाशक चीजें गांवोंमें दाखिल न करें। हम देहातमें जाने पर भी अपने बच्चोंको आधी या पूरी लंबाईका पतलून पहनाते हैं। इसमें उन बच्चोंका कल्याण तो है ही नहीं, उलटे एक दूसरा अशुभ परिणाम निकलता है कि दूसरे बच्चोंमें और उनमें भेद पैदा हो जाता है। या फिर दूसरे लोगोंको भी अपने बच्चोंको सजानेका शौक पैदा हो जाता है। एक फिजूलकी जरूरत पैदा हो जाती है। हमें देहातोंमें जाकर अपनी जरूरतें कम करनी चाहिए। यह विचारका एक पहलू हुआ।

देहातकी आमदनी बढ़ाना इस विचारका दूसरा पहलू है। लेकिन वह कैसे बढ़ाई जाय? हममें आलस्य बहुत है। वह महान् शत्रु है। एकका विशेषण दूसरेको जोड़ देना साहित्यमें एक अलंकार माना गया है। "कहे लड़कीसे, लगे बहूको", इस अर्थकी जो कहावत है उसका भी अर्थ यही है। बहूको यदि कुछ जली-कटी सुनानी हो तो सास अपनी लड़कीको सुनाती है। उसी तरह हम कहते हैं, "देहाती लोग आलसी हो गये।" दरअसल आलसी तो हम हैं। यह विशेषण पहले हमें लागू होता है। हम इसका उनपर आरोप करते हैं। बेकारीके कारण उनके शरीरमें आलस्य भले ही भिद गया हो, परंतु उनके मनमें आलस्य नहीं है। उन्हें बेकारीका शौक नहीं है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कार्यकर्त्ताओंके तो मनमें भी आलस्य है और शरीरमें भी। आलस्य हिंदुस्तानका महारोग है। यह बीज है। बाहरी महारोग इसका फल है। हमें इस आलस्यको दूर करना चाहिए। सेवकको सारे दिन

कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए। और कुछ न हो तो गांवकी परिक्रमा ही करे। और कुछ न मिले तो हड्डियां ही बटोरे। यह भगवान् शंकरका कार्यक्रम है। हड्डियां इकट्ठी करके चर्मालयमें भेज दे। इससे आशुतोष भगवान् शंकर प्रसन्न होंगे। या एक बाल्टीमें मिट्टी लेकर रास्तेपर जहां-जहां खुला हुआ मैला पड़ा हो उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए कोई खास कौशलकी जरूरत नहीं।

हमारे सेनापति बापटने एक कवितामें कहा है कि, "झाड़ू, खपरैल और खुरपा, ये औजार धन्य हैं।" ये कुशल औजार हैं। जिस औजारका उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है उसे बनानेवाला अधिक-से-अधिक कुशल होता है। जिस औजारके उपयोगकेलिए कम-से-कम कुशलताकी जरूरत हो वह अधिक-से-अधिक कुशल औजार हैं। खपरैल और झाड़ू ऐसे ही औजार हैं। झाड़ू सिर्फ फिराने की देर है, भू-माता स्वच्छ हो जाती हैं। खपड़ियामें जरा भी आनाकानी किये बिना मैला आ जाता है। यंत्र-शास्त्रके प्रयोग इस दृष्टिसे होने चाहिए। खपरैल, खुरपा और झाड़ूके लिए पैसे नहीं देने पड़ते। इसलिए ये सीधे-सादे औजार धन्य हैं!

रामदासने अपने 'दासबोध'में सुबहसे शामतककी दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सबेरे शौच-क्रियाकेलिए बहुत-दूर जाओ और वहांसे लौटते हुए कुछ-न-कुछ लेते आओ। वह कहते हैं कि खाली हाथ आना खोटा काम है। सिर्फ हाथ हिलाते नहीं आना चाहिए। कोई-कोई कहते हैं कि हम तो हवा खाने गये थे। लेकिन हवा खानेका कामसे विरोध क्यों हो? कुदालीसे खोदते हुए क्या नाक बंद कर ली जाती है? हवा खाना तो सदा चालू ही रहता है। परंतु श्रीमान् लोग हमेशा बिना हवावाली जगहमें बैठे रहते हैं। इसलिए उनकेलिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है। मगर कार्यकर्त्ताको सदा खुली हवामें काम करनेकी आदत होनी चाहिए। वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ-न-कुछ जरूर लाया करे। देहातमें वह दतुअन ला सकता है। लीपनेके

लिए गोबर ला सकता है और अगर कुछ न मिले तो कम-से-कम किसी खेतके कपासके पेड़ ही गिनकर आ सकता है, यानी फसलका ज्ञान अपने साथ ला सकता है। मतलब, उसे फिजूल चक्कर नहीं काटने चाहिए। देहातमें काम करनेवाले ग्राम-सेवकको सुबहसे लेकर शामतक कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए।

लोगोंकी शक्ति कैसे बढ़ेगी, इसके विषयमें अब कुछ कहूंगा। देहातमें बेकारी और आलस्य बहुत है। देहातके लोग मेरे पास आते और कहते हैं, "महाराज, हम लोगोंका बुरा हाल है। घरमें चार खानेवाले मुंह हैं।" न जाने वे मुझे 'महाराज' क्यों कहते हैं? मेरे पास कौन-सा राज धरा है? मैं उनसे पूछता हूं, "अरे भाई, घरमें अगर खानेवाले मुंह न हों तो क्या बगैर-खानेवाले हों? बगैर-खानेवाले मुंह तो मुर्दोंके होते हैं। उन्हें तो तुरंत बाहर निकलना होता है। तुम्हारे घरमें चार खानेवाले मुंह हैं, यह तो तुम्हारा वैभव है। वे तुम्हें भार क्यों हो रहे हैं? भगवान्‌ने आदमीको अगर एक मुंह दिया है तो उसके साथ-साथ दो हाथ भी तो दिये हैं। अगर वह एक समूचा मुंह और आधा ही हाथ देता तो अलबत्ता मुश्किल थी। तुम्हारे यहां चार मुंह हैं तो आठ हाथ भी तो हैं। फिर भी शिकायत क्यों? लेकिन हम उन हाथोंका उपयोग करें, तब न? हमें तो हाथ-पर-हाथ धरकर बैठे रहनेकी आदत हो गई है, हाथ जोड़नेकी आदत होगई है। जब हाथ चलना बंद हो जाता है तो मुंह चलना शुरू हो जाता है। फिर खानेवाले मुंह आदमीको ही खाने लगते हैं।

हमें अपने दोनों हाथोंसे एक-सा काम करना चाहिए। पौनारमें कुछ लड़के कातने आते हैं। उनसे कहा, "बायें हाथसे कातना शुरू करो।" उन्होंने यहींसे कहना शुरू किया कि "हमारी मजदूरी कम हो जायगी। बायां हाथ दाहिनेकी बराबरी नहीं कर सकेगा।" मैंने कहा, "यह क्यों? दाहिने हाथमें अगर पांच अंगुलियां हैं तो बायें हाथमें भी तो हैं। फिर क्यों नहीं बराबरी कर सकेगा?" निदान, मैंने

उनमेंसे एक लड़का चुन लिया और उससे कहा कि "बायें हाथसे कात।" उसे जितनी मजदूरी कम मिलेगी उतनी पूरी कर देनेका जिम्मा मैंने लिया। चौदह रोजमें वह साढ़े चार रुपये कमाता था। बांयें हाथसे पहले पखवाड़ेमें ही उसे करीब तीन रुपये मिले। दूसरे पाखमें बायां हाथ दाहिनेकी बराबरी पर आ गया। एक रुपया मैंने अपनी गिरहसे पूरा किया। लेकिन उससे सबकी आंखें खुल गईं। यह कितना बड़ा लाभ हुआ? मैंने लड़कोंसे पूछा, "क्यों लड़को, इसमें फायदा है कि नहीं?" वे कहने लगे, "हां, क्यों नहीं?" दाहिना हाथ भी तो आठ घंटे लगातार काम करनेमें धीरे-धीरे थकने लगता है। अगर दोनों हाथ तैयार हों तो अदल-बदलकर सकते हैं और थकावट बिलकुल नहीं आती। अठाईस-के-अठाईसों लड़के बायें हाथका प्रयोग करनेके लिए तैयार हो गये!

शुरू शुरूमें हाथमें थोड़ा दर्द होने लगता है। लेकिन यह सात्त्विक दर्द है। सात्त्विक सुख ऐसा ही होता है। अमृत भी शुरू-शुरूमें जरा कडुआ ही लगता है। पुराणोंका वह एकदम मीठ-ही-मीठा अमृत वास्तविक नहीं। अमृत अगर, जैसा कि गीतामें कहा है, सात्त्विक हो तो वह मीठा-ही-मीठा कैसे हो सकता है? गीतामें बताया हुआ सात्त्विक सुख तो प्रारंभमें कडुआ ही होता है। मेरी बात मानकर लड़कोंने तीन महीनेतक सिर्फ बायें हाथसे कातनेका प्रयोग करनेका निश्चय किया। तीन महीने मानो दाहिने हाथको बिलकुल भूल ही गये। यह कोई छोटी तपस्या नहीं हुई।

देहातमें निंदाका दोष काफी दिखलाई देता है। बात नहीं कि शहरके लोग इससे बरी हैं। लेकिन यहां मैं देहातके ही विषयमें कह रहा हूं। निंदा सिर्फ पीठ-पीछे जिंदा रहती है। उससे किसीका भी फायदा नहीं होता। जो निंदा करता है उसका मुंह खराब होता है और जिसकी निंदाकी जाती है उसकी कोई उन्नति नहीं होती। मैं यह जानता तो था कि देहातियोंमें निंदा करनेकी आदत होती है। लेकिन

यह रोग इतने उग्र रूपमें फैल गया होगा, इसका मुझे पता न था। इधर कुछ दिनोंसे मैं सत्य और अहिंसाके बदले सत्य और अनिंदा कहने लगा हूं। हमारे सन्तोंकी बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी। उनके वाङ्मयका रहस्य अब मेरी समझमें आया। वे देहातियोंसे भली-भांति परिचित थे। इसलिए उन्होंने जगह-जगह कहा है कि निंदा न करो, चुगली न खाओ। सन्तोंकेलिए मेरे मनमें छुटपनसे ही भक्ति है। उनके किये हुए भक्ति और ज्ञानके वर्णन मुझे बड़े मीठे लगते थे। लेकिन मैं सोचता था कि 'निंदा मत करो' कहनेमें क्या बड़ी विशेषता है। उनकी नीति-विषयक कविताएं मैं पढ़ता तो था, लेकिन वे मुझे भाती न थीं। पर-स्त्रीको माताके समान समझो, पराया माल न छुओ, और निंदा न करो—इतनेमें उनकी नैतिक शिक्षाकी पूंजी खत्म हो जाती थी। भक्ति और ज्ञानके साथ-साथ उसी श्रेणीमें वे इन चीजोंको भी रखते थे। यह मेरी समझमें न आता था। लेकिन अब खूब अच्छी तरह समझ गया हूं। निंदाका दुर्गुण उन्होंने लोगोंकी नस-नसमें पैठा हुआ देखा, इस-लिए उन्होंने अनिंदापर बार-बार इतना जोर दिया और उसे बड़ा भारी सद्गुण बतलाया। कार्यकर्त्ताओंको यह शपथ ले लेनी चाहिए कि हम न तो निंदा करेंगे और न सुनेंगे। निंदामें अक्सर गलती और अत्युक्ति होती है। साहित्यमें अत्युक्ति भी एक अलंकार माना गया है! संसारको चौपट कर दिया है इन साहित्यवालोंने। वस्तुस्थितिको तिगुना, दस-गुना, बीसगुना, बढ़ाकर बताना उनके मतसे अलंकार है। तो क्या जो चीज जैसी है उसे वैसी ही बताना अपनी नाक काटनेके समान है? कथाकार और प्रवचनकारकी अत्युक्तिका कोई ठिकाना ही नहीं। एकको सौगुना बढ़ानेका नाम अतिशयोक्ति है, ऐसी उसकी कोई नाप होती तो अतिशयोक्तिसे वस्तुस्थितिकी कल्पना कर सकते! लेकिन यहां तो कोई हिसाब ही नहीं है। वे एकका सौगुना नहीं करते बल्कि शून्यको सौगुना बढ़ाते हैं। सुनता हूं, सौ अनंतका गुणा करनेसे कोई एक अंक आता है, लेकिन यह तो गणितज्ञ ही जानें।

तीसरी बात जो मैं आप लोगोंसे कहना चाहता हूं वह है सचाई। हमारे कार्यकर्त्ताओंमें स्थूल अर्थमें सचाई है, सूक्ष्म अर्थमें नहीं। अगर मैं किसीसे कहूं कि तुम्हारे यहां सात बजे आऊंगा तो वह पांच ही बजेसे मुझे लेनेकेलिए मेरे यहां आकर बैठ जाता है, क्योंकि वह जानता है कि इस देशमें जो कोई किसी खास वक्त आनेका वादा करता है वह उस वक्त आयेगा ही इसका कोई नियम नहीं। इसलिए वह पहलेसे ही आकर बैठ जाता है। सोचता है कि दूसरेके भरोसे काम नहीं बनता। इसलिए हमें हमेशा बिलकुल ठीक बोलना चाहिए। किसी गांववालेसे आप कोई काम करनेके लिए कहिए तो वह कहेगा, 'जी हां'। लेकिन उसके दिलमें वह काम करना नहीं होता। हमें टालनेकेलिए वह 'जी हां' कह देता है। उसका मतलब इतना ही होता है कि अब ज्यादा तंग न कीजिए। 'जी हां'से उसका मतलब है कि यहांसे तशरीफ ले जाइए। उसके 'जी हां'में थोड़ा अहिंसाका भाव होता है। वह 'आगे बढ़िए' कहकर आपके दिलको चोट पहुंचाना नहीं चाहता। आपको वह ज्यादा तकलीफ नहीं देना चाहता। इसलिए 'जी हां' कहकर जान बचा लेता है।

इसलिए कोई भी बात जो हम देहातियोंसे करना चाहें वह उन्हें समझा भर देनी चाहिए। उनसे शपथ या व्रत नहीं लिवाना चाहिए। जबसे मैं देहातमें गया तबसे किसीसे किसी बातके विषयमें वचन लेनेसे मुझे चिढ़-सी हो गई है। अगर मुझसे कोई कहे भी कि मैं यह बात करूंगा तो मैं उससे यही कहूंगा कि "यह तुम्हें जंचती है न? बस, तो इतना काफी है। वचन देनेकी जरूरत नहीं। तुमसे हो सके तो करो" लोगोंको उसकी उपयोगिता समझाकर संतोष मान लेना चाहिए। क्योंकि किसीसे कोई काम करनेका वचन लेनेके बाद उस कामके करानेकी जिम्मेदारी हमपर आ जाती है। अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूपसे झूठ बोलनेमें सहायता करते हैं। राजकोट प्रकरण और क्या चीज है? अगर कोई हमारे सामने किसी विषयमें वचन दे दे और

फिर उसे पूरा न करे तो इसमें हमारा भी अधःपतन होता है। इसलिए बापूको राजकोटमें इतना सारा प्रयास करना पड़ा। इसलिए वचन, नियम या व्रतमें किसीको बांधना नहीं चाहिए और अगर किसीसे वचन लेना ही पड़े तो वह वचन अपना समझकर उसे पूरा करानेकी साव-धानी पहले रखनी चाहिए। उसे पूरा करनेमें हर तरहसे मदद करनी चाहिए। सचाईका यह गुण हमारे अंदर होना चाहिए।

बाइबलमें कहा है, "ईश्वरकी कसम न खाओ"। आपके दिलमें 'हां' हो तो हां कहिए और 'ना' हो तो ना कहिए। लेकिन हमारे यहां तो रामदुहाई भी काफी नहीं समझी जाती। कोई भी बात तीन बार वचन दिये बिना पक्की नहीं मानी जाती। सिर्फ 'हां' कहनेका अर्थ इतना ही है कि "आपकी बात समझमें आ गई। अब देखेंगे, विचार करेंगे"। किसी मजबूत पत्थरपर एक-दो चोट लगाइये तो उसे पता भी नहीं चलता। दस-पांच मारिए, तब वह सोचने लगता है कि शायद कोई व्यायाम कर रहा है। पचास चोट लगाइए तब कहीं उसे पता चलता है कि "अरे यह व्यायाम नहीं कर रहा है। यह तो मुझे फोड़ने आ रहा है।" एक बार हां कहनेका कोई अर्थ ही नहीं। दो बार कहने-पर वह सोचने लगता है कि मैंने हां कर दी है। और जब तीसरी बार हां कहता है तब उसके ध्यानमें आता है कि मैंने जान-बूझकर हां कही है। कुलका अर्थ इतना ही है कि सूक्ष्म दृष्टिसे झूठ हमारी नस-नसमें भिद गया है। इसलिए कार्यकर्ताओंको अपनेलिए यह नियम बना लेना चाहिए कि जो बात करना कबूल करें उसे करके ही दम लें। इसमें तनिक भी गलती न करें। दूसरेसे कोई वचन न लें। उस झंझटमें न पड़ें।

अब कार्य-कर्त्ताओंसे कार्य-कुशलताके बारेमें दो-एक बातें कहना चाहता हूं। जब हम कार्य करने जाते हैं तो चालू पीढ़ीके बहुत पीछे पड़ते हैं। चालू पीढ़ीका तो विशेषण ही 'चालू' है। वह चलती चीज है। उसकी सेवा कीजिए। लेकिन उसके पीछे न पड़िए। उसके शरीरके

के समान उसका मन और उसके विचार भी एक सांचेमें ढले हुए होते हैं। जो नई बात कहना हो वह नौजवानोंसे कहनी चाहिए। तरुणोंके विचार और विकार दोनों बलवान् होते हैं। इसीलिए कुछ लोग उन्हें उच्छृङ्खल भी कहते हैं। इसमें सचाई इतनी ही है कि वे बलवान् और वेगवान् होते हैं। अगर उनके विचार बलवान् हो सकते हैं तो वैराग्य भी जबरदस्त हो सकता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है वैसे-वैसे विकारोंका शमन होता जाता है। मोटे हिसाबसे यह सच है। लेकिन इसका कोई भरोसा नहीं। यह कोई शास्त्र नहीं है। हमारी बात चालू पीढ़ीको अगर जंचे तो अच्छा ही है, और न जंचे तो भी कोई हानि नहीं। भावी पीढ़ीको हाथमें लेना चाहिए। युवक ही नये-नये कामोंमें हाथ डालते हैं, बूढ़े नहीं। विकार किस तरह बढ़ते या घटते हैं; यह मैं नहीं जानता। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वृद्धोंकी अपेक्षा तरुणोंमें आशा और हिम्मत ज्यादा होती है।

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फलकी आशा नहीं करनी चाहिए। पांच-दस साल काम करनेपर भी कोई फल होता हुआ न देखकर निराश न होना चाहिए। हिंदुस्तानके लोग बीस हजार सालके बूढ़े हैं। जब किसी गांवमें कोई नया कार्यकर्त्ता जाता है तो वे सोचते हैं कि ऐसे तो कई देख चुके हैं। साधु-संत भी आये और चले गये। नया कार्यकर्त्ता कितने दिन टिकेगा, इसके विषयमें उन्हें संदेह होता रहता है। अगर एक-दो साल टिक गया तो वे सोचते हैं कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्युतक भी राह देखते रहें तो कोई बड़ी बात नहीं।

ग्रामवासियोंसे 'समरस' होनेका ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रंग हमपर भी चढ़ जाये, इसका नाम उनसे मिलना नहीं है। इस तरह मिलनेसे तद्रूपता आने लगती है। मेरे मतसे समाजके प्रति आदरका जितना महत्त्व है उतना परिचयका नहीं। समाजके साथ सम-

रस होनेसे उसका लाभ ही होगा, अगर हम ऐसा मानें तो इसमें अहंकार है। हम क्या कोई पारस पत्थर हैं कि हमारे केवल स्पर्शसे समाजकी उन्नति हो जायगी? केवल समाजसे समरस होनेसे काम होगा, यह माननेमें जड़ता है। रामदास कहते हैं, "मनुष्यको ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदायका हौसला रखना चाहिए; लेकिन अखंड और स्थिर होकर एकांत-सेवन करना चाहिए।" वे कहते हैं कि,, "कोई जल्दी नहीं है। शांतिसे अखंड एकांत-सेवन करो।" एकांत-सेवनसे आत्म-परीक्षणका मौका मिलता है। लोगोंसे किस हदतक संपर्क बढ़ाया जाय, यह ध्यानमें आता है। अन्यथा अपना निजी रंग न रहकर उसपर दूसरे रंग चढ़ने लगते हैं। कार्यकर्त्ता फिर देहातियोंके रंगका ही हो जाता है। उसके चित्तमें व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालयकी शरण लूं। एकाध बड़े आदमीके पास जाकर कहने लगता है कि मैं दो-चार महीने आपका सत्संग करना चाहता हूं। फिर वे महादेवजी और ये नंदी, दोनों एक जगह रहने लगते हैं! वह कहता है, "मैं बड़ा होकर खराब हुआ। अब तू मेरे पास रहता है। इसमें कोई लाभ नहीं।" इसलिए समाजमें सेवाकेलिए ही जाना चाहिए। बाकीका समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षणमें बिताना चाहिए। आत्म-परीक्षणके बिना उन्नति नहीं हो सकती। अपने स्वतंत्र समयमें हम अपना एकाध प्रयोग भी करें। कई कार्यकर्त्ता कहते हैं, "क्या करें, चिंतनके लिए समय ही नहीं मिलता। जरा बैठे नहीं कि कोई-न-कोई आया नहीं।" जो आये उससे बोलनेमें समय बिताना सेवा नहीं है। कार्यकर्त्ताको स्वाध्याय और चिंतनकेलिए अलग समय रखना चाहिए। एकांत-सेवन करना चाहिए। यह भी देहातकी सेवा ही है।

एक बात स्त्रियोंके संबंधमें। स्त्रियोंकेलिए कोई काम करनेमें हम अपनी हतक समझते हैं। पौनारका ही उदाहरण लीजिए। व्याकरणके अनुसार जिनकी गणना पुल्लिंगमें हो सकती है ऐसा एक भी आदमी

अपनी धोती आप नहीं फींचता। बापके कपड़े लड़की धोती है, लड़केके कपड़े मां धोती है और भाईके कपड़े बहनको धोने पड़ते हैं। मांकी साड़ी फींचनेमें भी हमें शर्म आती है, तो पत्नीकी साड़ी धोनेकी तो बात ही क्या ? अगर विकट प्रसंग आ जाय तो कोई रिश्तेदारिन धो देती है। अगर वह भी न मिले तो पड़ोसिन यह काम करेगी। अगर वह भी न मिले और पत्नीकी साड़ी साफ करनेका मौका आ ही जाय, तो फिर वह काम शामको, कोई देख न पाये ऐसे इंतजामसे, चुपचाप, चोरीसे, कर लिया जाता है। यह हालत है ! और मेरा प्रस्ताव तो इससे बिलकुल उलटा है। लेकिन अगर आप मेरी बातपर अमल करें तो आगे चलकर वे स्त्रियां ही आपके कपड़े बना देंगी, इसमें तनिक भी शंका नहीं। एक बार मैं खादीका एक स्वावलंबन-केंद्र देखने गया। दफ्तरमें कोई सत्तर-पचहत्तर स्वावलंबी खादी-धारियोंकी तालिका टंगी हुई थी। लेकिन उसमें एक भी स्त्री नहीं थी। वहां जो सभा हुई उसमें मेरे कहनेसे खासकर स्त्रियां भी बुलाई गई थीं। मैंने पूछा, 'यहां इतने स्वावलंबी खादीधारी पुरुष हैं; तो क्या स्त्रियां न कातेंगी ?'' स्त्रियोंने जवाब दिया, "हम ही तो कातती हैं।" तब मैंने खुद कातनेवाले पुरुषोंसे हाथ उठानेको कहा। कोई तीन-चार हाथ उठे। शेष सब स्त्रियों द्वारा काते गये सूतके जोरपर स्वावलंबी थे। इसलिए कहता हूं कि फिलहाल उनकेलिए महीन सूत कातिए। आगे चलकर वे ही आपके सारे कपड़े तैयार कर देंगी। कम-से-कम खादी-यात्रामें पहननेकेलिए एक साड़ी अगर आप उन्हें बना दें तो भी मैं संतोष मान लूंगा। अगर वे वहां आयेंगी तो कम-से-कम हमारी बातें उनके कानोंतक पहुंचेंगी।

चरखेका सहचारी भाव

पुराने जमानेकी बात है। एक सत्य-वक्ता, विशुद्धमना साधु वनमें तप करते थे। उनके शांत तपके प्रभावसे वहांके पशु-पक्षी आपसी वैर-भाव भूल गये थे जिससे वन-का-वन एक आश्रम जैसा बन गया था। जिस तपके बलसे वन-केसरीका स्वभाव बदल जाय उससे इंद्रका सिंहासन डोलने लगे तो इसमें क्या आश्चर्य है ? इंद्रने उस साधुका तप भंग करना तय किया। हाथमें तलवार ले योद्धाका भेस बना वह साधुके पास आये, और विनती करने लगे—"क्या आप मेरी यह तलवार कृपा करके अपने पास धरोहरकी भांति रख लेंगे ?" न जाने साधुने क्या सोचकर उनकी विनती मान ली। इंद्र चले गये। साधुने धरोहर संभालकर रखनेकी जिम्मेदारी ली थी, वह दिन-रात तलवार अपने साथ रखने लगे। देव-पूजाकेलिए पुष्प आदि लेने जाते तो भी तलवार साथ होती। आरंभमें उन्होंने विश्वासके नाते तलवार अपनाई थी, धीरे-धीरे तलवारपर उनका विश्वास जमता गया। तलवार नित्य साथ रखते-रखते तपस्यासे श्रद्धा जाती रही। यह बात उनके ध्यानमें भी न आई। साधु क्रूर हो गया, इंद्रका सिंहासन स्थिर और निर्भय हो गया और वनके हरिण डरके मारे कांपने लगे।

रामचंद्रजीके दंडक वनमें घूमते समय उनके हाथों कहीं हिंसा न हो जाय, इस विचारसे यह सुंदर कथा सीताजीने उनसे कही थी। हर वस्तुके साथ उसका सहचारी भाव आता ही है। इस कथाका इतना ही

भाव है। जैसे सूर्यके समीप उसकी किरणें वैसे ही वस्तुके समीप उसका सहचारी भाव होता है।

हम कहते हैं चरखेका सर्वत्र प्रचार हो जाय तो स्वराज्य मिला ही समझिए। इसका मतलब बहुतोंकी समझमें नहीं आता। कारण, चरखेके सहचारी भाव उनके ध्यानमें नहीं आते। घरमें एक चरखा आते ही अपने साथ कितनी भावनाएं लाता है, यह हम नहीं जानते। बिजली-की भांति सारा वातावरण पलभरमें बदल जाता है। राजाके बाहर निकलनेपर हम कहते हैं—"राजाकी सवारी निकली है।" चरखा घरके भीतर आया तो चरखेकी सवारी भीतर आती है। इस सवारीमें कौन-कौनसे सरदार शामिल होते हैं, इसपर विचार करें तो 'चरखेसे स्वा-राज्य'का रहस्य समझमें आ जाये।

थोड़े दिन हुए एक धनिक सज्जनने जिन्होंने कांग्रेसके नियमानुसार हालमें ही चरखा कातना शुरू किया था चरखेके विषममें अपना यह अनुभव बताया था। "पहले मेरे मनमें चाहे जैसे-तैसे व्यर्थ विचार आया करते थे। चरखा कातना शुरू करनेपर यह बात अपने-आप बंद हो गई। बीचमें एक बार जीमें आया कि बड़े लोग मोटर रखते हैं, मैं मैं भी एक मोटर लूं। पर तुरंत ही यह विचार हुआ कि एक ओर चरखा और दूसरी ओर मोटरके पीछे मेरा पैसा विदेश जाय, यह ठीक नहीं। मोटरके बिना मेरा कोई काम अटका भी नहीं है। यह अनुभव एक-दोका नहीं; बहुतोंका है। चरखेके सहचारी भावोंमें गरीबोंके प्रति सहानुभूति, गरीबीकी कद्र और उसमें ही रस मानना एक महत्त्वपूर्ण भाव है। गरीब और अमीरमें एकता लानेकी सामर्थ्य जितनी चरखेमें है उतनी और किसी चीजमें नहीं।

गरीब और अमीरका झगड़ा सारी दुनियाको परेशान कर रहा है। इसे मिटानेकी शक्ति अकेले चरखेमें ही है। गरीब-अमीर एक हो जायं तो स्वराज्य मिलते कितनी देर?

आज अपने समाजके, अंधा मजदूर और लंगड़ा पंडित, ये दो भाग

हो गये हैं। सुशिक्षितोंमें स्वराज्यकी भावना है पर कार्य करनेकी शक्ति नहीं। अशिक्षितोंमें कार्य करनेकी शक्ति है तो भावना नहीं। अंधे और लंगड़ेकी इस जोड़ीको जोड़नेकी कला केवल चरखेमें है। यों तो चरखा एक सीधी-सादी-सी चीज दिखाई देता है। और है भी वह ऐसी ही। पर इस सीधी-सी वस्तुकेलिए भी बढ़ई लुहार, चमार आदिके चरणोंमें बैठना पड़ता है। अपने छोटे भाईको मैंने एक बढ़ईके पास काम सीखने-को रखा था। शुरू-शुरूमें तो बढ़ई बड़े अदबसे सिखाता-बताता था, पर थोड़े दिन बाद ही उसे मालूम हो गया कि मेरा शिष्य और बातोंमें चाहे विद्वान् हो पर इस काममें मूर्ख है। फलतः एक दिन धमकाकर बोला "इतना बताया तो भी 'तू' नहीं समझता?" शुरू-शुरूमें वह 'तुम' कहता था। लेकिन उम्र छोटी होते हुए भी जब उसके मुंहसे 'तू' निकल पड़ा तो मुझे आनंद हुआ। जान पड़ा स्वराज्य पास आ गया है। एक बार मैं चरखा कात रहा था, एक ढेड़ बुनकर मुझसे मिलने आया। (यह संयोग भी चरखेके आंदोलनके बिना नहीं आता) मैं कातते-कातते उसके साथ बातें करता जाता था। तकुएमें कुछ दोष था जिससे अच्छा कातते नहीं बनता था। उस ढेड़के ध्यानमें तुरंत यह बात आ गई थी और क्या दोष है, यह उसने मुझे बताया। मुझ जैसे 'विद्वान्'को सिखानेमें उसको कितना आनंद आया होगा और हम एक दूसरेके कितने पास आये होंगे! सुशिक्षित और अशिक्षित एक हो जायं तो स्वराज्य क्यों न मिले?

आज हिंदू-मुसलमानके झगड़ोंका प्रश्न बड़ा विकट हो गया है। मैं समझता हूं कि इसे हल करनेकी शक्ति भी केवल चरखेमें ही है। प्रत्येक मंदिर और मसजिदमें चरखेका प्रवेश हो जाय तो सब झगड़े खत्म हो जायं। अवश्य ही आजकी परिस्थितिमें ऐसा होनेके लिए भी दूसरी कितनी ही वस्तुओंकी सहायता दरकार होगी। लेकिन चरखा कातनेवाला, कोई भी हिंदू या मुसलमान, एक दूसरेका सिर तोड़नेको कभी तैयार न होगा, यह बात पक्की है। जिस तरह तलवारको साथ

रखते-रखते मनुष्य हिंसक बन जाता है उसी तरह वह चरखेके साथसे शांत बन जाता है। शांति या अहिंसा ही चरखेका सहचारी भाव है। समाजमें शांति स्थापित हो और उससे हिंदू-मुस्लिम झगड़ोंका अंत हो जाय तो स्वराज्य क्यों न मिले?

चरखेके सहचारी भावोंके यथार्थ स्वरूपका वर्णन नहीं किया जा सकता। और किया भी जाय तो केवल पढ़कर वह समझा नहीं जा सकता। उसकेलिए तो खुद चरखेसे ही दोस्ती करनी होगी। दोस्ती पक्की होते ही चरखा खुद ही अपने सब रहस्य बता देता है, उसकी संगीत-मधुर-वाणी एक बार कानमें पड़ी कि सारी कुशंकाएं मिटीं समझिए। इसलिए यह लेख पूरा करनेके पचड़ेमें न पड़कर, उसका बाकी हिस्सा पाठक चरखेमेंसे कात लें। उनसे इतनी प्रार्थना करके मैं यहीं विश्राम लेता हूं।

: ४२ :

सारे धर्म भगवान्के चरण हैं

पिछले दिनों बंबईमें इस्लामके एक अध्येता श्री मुहम्मदअलीका 'कुरानके अध्ययन'पर एक भाषण हुआ था। उसमें उन्होंने जो विचार प्रकट किये थे वैसे आजकलके असहिष्णु युगमें बहुत कम सुनाई देते हैं।

उन्होंने कहा, "कुरानके संबंधमें हिंदुओं या ईसाइयोंके उपदेशके दिलोंमें होनेवाली विपरीत भावनाओंकी जिम्मेदारी मुसलमानोंकी है। परधर्मोंके विषयमें जो वृत्ति कुरानकी मानी जाती है। उसकेलिए वस्तुतः कुरान जिम्मेदार नहीं है, बल्कि वे चंद मुसलमान हैं जो कुरानके उपदेशके खिलाफ आचरण कर रहे हैं। कुरानका उचित रीतिसे अध्ययन करनेसे विदित होगा कि कुरानकी रूसे जहां-जहां ईश्वर-शरणता है वहां-वहां इस्लाम है। मैं खुद किसी समय नास्तिक और ऊपरी—अर्थात् हिंदू विरोधी या ईसाई विरोधीके अर्थमें—मुसलमान था। पर कुरान पढ़नेपर इस्लामका असली अर्थ मेरी समझमें आ गया और आज मैं एक सच्चे हिंदू या सच्चे ईसाईको असली मुसलमान समझ सकता हूं।'

यह दृष्टि शुद्ध है। सच्चे हिंदूमें मुसलमान है और सच्चे मुसलमानमें हिंदू है। हममें पहचाननेभर की शक्ति होनी चाहिए। विट्ठलका उपासक विट्ठलकी उपासना कभी नहीं छोड़ेगा। वह जन्मभर विट्ठलका ही उपासक रहेगा। लेकिन वह रामकी उपासनाका विरोध न करेगा। वह विट्ठलमें भी राम देख सकता है। यही बात रामोपासकपर लागू है। उसे रामकी मूर्त्तिमें विट्ठलके दर्शन होते हैं।[1]

१–तुलसीदासजीने कहा नहीं है—"मोर मुकुट कटि काछनी, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नमे, धनुष बाण लो हाथ।"

धर्माचरण एक उपासना है। उपासनामें विरोधकी गुंजाइश नहीं। जैसे 'राम' और 'विट्ठल' एक ही परमेश्वरकी मूर्तियां हैं और इसलिए उनमें विशिष्टता होते हुए भी उनका विरोध नहीं है; वैसे ही हिंदू-धर्म मुस्लिम-धर्म इत्यादि एक ही सत्य-धर्मकी मूर्त्तियां हैं, इसलिए उनमें विशिष्टता होते हुए भी विरोध नहीं है। जो ऐसा देखता है वही वास्तवमें देखता है।

रामकृष्ण परमहंसने भिन्न-भिन्न धर्मोंकी साधना स्वयम् करके सब धर्मोंकी एकरूपता प्रत्यक्ष कर ली। तुकारामने अपनी उपासनाके सिवा दूसरे किसीकी उपासना न करते हुए भी सारी उपासनाओंकी एक वाक्यता जान ली। जो स्वधर्मका निष्ठासे आचरण करेगा उसे स्वभावतः ही दूसरे धर्मोंकेलिए आदर रहेगा। जिसे परधर्मकेलिए अनादर हो उसके बारेमें समझ लीजिए कि वह स्वधर्मका आचरण नहीं करता।

धर्मका रहस्य जाननेकेलिए न तो कुरान पढ़नेकी जरूरत है, न पुराण पढ़नेकी। 'सारे धर्म भगवान्‌के चरण हैं', इतनी एक बात जान लेना बस है।